नई दिल्ली
रविवार, 30 मार्च, 2025, मूल्य-15.00

राष्ट्रीय
वर्ष-7 अंक-23 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

बिहार की राजनीति करवट लेने को तैयार दिख रही, कांग्रेस के प्रयास रंग लाते नजर आ रहे 3

बौद्धों में बढ़ रही है नाराजगी, मुश्किल में आ सकती है सरकार 2

ईद उल फ़ितर का त्योहार अमन और दोस्ती का पैगाम एवं खुशहाली लाए, संडे नवजीवन की ओर से दिली मुबारकबाद!

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

कठघरे में एक जज, मुकदमा पूरी व्यवस्था पर

क्या वास्तविक न्यायिक सुधार की शुरुआत करेगा न्यायाधीश यशवंत वर्मा मामला या यह एक और पर्दा डालने वाला केस बनकर रह जाएगा?

योगेन्द्र यादव

दिल्ली हाईकोर्ट के न्यायाधीश यशवंत वर्मा के मामले में असली खतरा यह नहीं है कि इसमें कुछ कार्रवाई नहीं होगी। इतने बड़े खुलासे के बाद और अब तक का सुप्रीम कोर्ट का रुख देखकर लगता है कि मामले में ठीक-ठाक जांच होगी। अगर जांच में कुछ निकला, तो सिर्फ ट्रांसफर जैसी बैंड-ऐड लगाने के बजाय, कुछ गंभीर कार्रवाई की उम्मीद भी है। असली खतरा यह है कि न्यायिक भ्रष्टाचार का ठीकरा एक जज पर फोड़कर इस गहरी संस्थागत बीमारी से आंख मूंद ली जाएगी। उससे भी बड़ा खतरा यह है कि एक जज के बहाने सभी अदालतों को बदनाम कर न्यायपालिका की बची-खुची स्वतंत्रता भी खत्म कर दी जाएगी। इलाज के नाम पर मरीज की हत्या हो जाएगी।

कोर्ट-कचहरी के कामकाज के जानकरों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। नया सिर्फ इतना था कि दैवीय प्रकोप के चलते अचानक बात कुछ इस तरह सार्वजनिक हो गई कि उसे छुपाना-दबाना नामुमकिन हो गया। नहीं तो नीचे से ऊपर तक अदालतों के गलियारों में भ्रष्टाचार की कहानियां हर रोज सुनने को मिलती हैं। संभव है कि यह कहानियां द्वेष से प्रेरित हों, पर सार्वजनिक सूचना के अभाव में इन अफवाहों को बल मिलता है। जब प्रशांत भूषण ने 2022 में अपने विरुद्ध अदालत की अवमानना के मुकदमे में हलफनामा दाखिल कर सुप्रीम कोर्ट के आठ मुख्य न्यायाधीशों के खिलाफ भ्रष्टाचार के प्रमाण दिए थे, तो उन आरोपों की जांच करने के बजाय अदालत में मामले को दबा दिया गया। दुर्भाग्यवश जब-जब न्यायपालिका से जुड़े संवेदनशील मुद्दे उठते हैं, तब कुछ ऐसा ही होता है।

इस बार यही कहानी न दोहराई जाए, इसके लिए कम-से-कम चार बड़े मुद्दों पर गौर करना होगा जिन्हें कैंपेन फॉर ज्यूडिशियल एकाउंटेबिलिटी एंड ज्यूडिशियल रिफॉर्म (यानी न्यायिक जवाबदेही और न्यायिक सुधार अभियान) पिछले दस साल से उठा रहा है। पहला मुद्दा तो सीधे इस नवीनतम केस से जुड़ा है — न्यायाधीशों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच और सुनवाई इस तरह से हो जिससे आमजन की न्यायपालिका में आस्था बनी रहे। इस नवीनतम मामले में सुप्रीम कोर्ट ने पारदर्शिता का एक नमूना पेश किया है। यह खबर सार्वजनिक होने के बाद सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश ने इस मामले से संबंधित सारे कागजात सार्वजनिक कर दिए, सिवाय कुछ नामों और सूचनाओं के जिनके सार्वजनिक होने से मामले की जांच में मुश्किल आ सकती थी। तीन हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीशों को जांच का काम सौंप दिया गया है। जांच पूरी होने तक न्यायाधीश वर्मा को कोई भी न्यायिक काम देने से रोक लगा दी गई है। उम्मीद है जांच की रिपोर्ट को भी सार्वजनिक कर दिया जाएगा। फैसला जो भी हो, किसी के मन में शक की गुंजाइश नहीं रहेगी।

सवाल यह है कि ऐसा हर गंभीर मामले में क्यों नहीं किया जा सकता? दुर्भाग्यवश पिछले अनेक वर्षों से इसका ठीक उल्टा हुआ है। पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई तो खुद अपने विरुद्ध यौन प्रताड़ना के मामले में इंसाफ करने बैठ गए थे। बाद में जब जांच समिति बनी भी, तो उसकी रिपोर्ट तक शिकायतकर्ता को नहीं दी गई। अधिकांश मामलों में तो पता ही नहीं चलता कि कोई जांच हुई भी या नहीं, हुई तो क्या नतीजा निकला। इससे यही संदेह गहरा होता है कि मामलों को रफा-दफा कर दिया जाता है। इसलिए यह नियम बनाना चाहिए कि हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट के किसी भी न्यायाधीश के खिलाफ कोई भी व्यक्ति अगर अपना नाम और प्रमाण देकर कोई गंभीर आरोप लगाता है, तो कोर्ट की जिम्मेदारी बनती है कि उस पर इंटरनल समिति बनाए, आरोपों की जांच करे, उस पर लिखित फैसला दे और अपने फैसले को (पर्याप्त सावधानी सहित) सार्वजनिक करे।

> खतरा यह है कि ठीकरा एक जज पर फोड़कर गहरी संस्थागत बीमारी से आंख मूंद ली जाएगी। बड़ा खतरा यह है कि एक जज के बहाने सभी अदालतों को बदनाम कर न्यायपालिका की बची-खुची स्वतंत्रता भी खत्म कर दी जाएगी। इलाज के नाम पर मरीज की हत्या हो जाएगी

बड़ा सवाल न्यायाधीश यशवंत वर्मा मामले पर सुप्रीम कोर्ट के रुख से लग सकता है कि पूरे प्रकरण की ठीक-ठाक जांच होगी और कुछ गंभीर कार्रवाई भी होगी लेकिन बड़ा सवाल यह है कि क्या इसे ही पर्याप्त माना जा सकता है।

दूसरा मुद्दा जजों की नियुक्ति में पारदर्शिता का है। हमारे यहां जजों की नियुक्ति का अधिकार सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ जजों के कॉलेजियम ने अपने हाथ में ले रखा है। ऐसे में कोर्ट की जिम्मेदारी बनती है कि इस संवेदनशील फैसले के बारे में उंगली उठाने की गुंजाइश न बचे। लेकिन दुर्भाग्यवश कोर्ट द्वारा चुने गए जजों को लेकर अनेक सवाल उठे हैं। भाई-भतीजावाद और जातिवाद से लेकर लैंगिक पूर्वाग्रह और राजनीतिक दबाव तक के आरोप लगे हैं। संभव है कि अधिकांश आरोप निराधार हों लेकिन सार्वजनिक चर्चा में उनका खंडन करने का आधार नहीं मिलता। इसलिए कैंपेन फॉर ज्यूडिशियल एकाउंटेबिलिटी एंड ज्यूडिशियल रिफॉर्म ने मांग की है कि जहां तक हो सके, नियुक्ति से जुड़े सारे कागज सार्वजनिक कर दिए जाएं — किन नामों पर विचार हुआ, क्या आपत्तियां मिलीं और कॉलेजियम के फैसले का आधार क्या था? पिछले कुछ साल से केन्द्र सरकार अपनी मनमर्जी से कोर्ट द्वारा नियुक्ति की किसी सिफारिश को मान लेती है, किसी तो टाल देती है, किसी को खारिज कर देती है। इसकी मर्यादा बनाना भी जरूरी है।

तीसरा मुद्दा कोर्ट के रोस्टर की मर्यादा बांधने का है। न्यायपालिका के काम से वाकिफ हर कोई व्यक्ति जानता है कि केस का फैसला बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि वह केस किन जजों की बेंच के सामने लगेगा और कब। और यह फैसला पूरी तरह से मुख्य न्यायाधीश के हाथ में है, चूंकि वह 'मास्टर ऑफ रोस्टर' हैं। मतलब यह कि मुख्य न्यायाधीश किसी भी केस के भाग्य विधाता हैं — केस कितने साल तक लटकेगा, कब लगेगा, किस रुझान वाले जज या बेंच के सामने लगेगा, सब कुछ। इस अधिकार के दुरुपयोग की शिकायत बहुत आम है, खासतौर पर उन मामलों में जिनमें सरकार, बड़े राजनेता या बड़े बिजनेस का स्वार्थ जुड़ा हो। दिल्ली दंगों से जुड़े मामलों में सालों तक जमानत की अर्जी पर फैसला नहीं हुआ है। कैंपेन फॉर ज्यूडिशियल एकाउंटेबिलिटी एंड ज्यूडिशियल रिफॉर्म ने मांग की है कि यह शक्ति केवल मुख्य न्यायाधीश की बजाय वरिष्ठ न्यायाधीशों के कॉलेजियम को दी जाए, कौन जज किस विषय से जुड़े मामले सुनेंगे, यह पहले से तय हो, फिर बेंच का आवंटन लाटरी से हो, हर केस समय से लगे और जल्दी सुनवाई की अर्जी का खुले कोर्ट में फैसला हो।

चौथा और अंतिम मुद्दा जजों की संपत्ति की जानकारी सार्वजनिक करने का है। विडंबना यह है कि सुप्रीम कोर्ट ने सभी राजनेताओं के लिए अपने नामांकन पत्र में अपनी आय और संपत्ति की घोषणा करना अनिवार्य बनाया। अब यह घोषणा सरकारी अफसरों के लिए भी अनिवार्य हो गई है। लेकिन यह बंदिश सुप्रीम और हाईकोर्ट के जजों पर लागू नहीं होती। जाहिर है, इसे बदलना होगा। बाकी सब के लिए मर्यादा लागू करने वाली न्यायपालिका को खुद मर्यादा के सर्वोच्च प्रतिमान बनाने होंगे। ■

सामार: नवोदय टाइम्स

डेटा संरक्षण, निजता के बहाने लोकतंत्र पर खड़े किए खतरे

डिजिटल प्राइवेसी और डेटा प्रोटेक्शन एक्ट-2023 यानी डीपीडीपीए के कई प्रावधान ऐसे हैं जिनसे इस मामले को उठाना अपराध की श्रेणी में रखा जा सकता है

हरजिंदर

मतदाता सूचियों की गड़बड़ियों के कई मामले कुछ समय से चर्चा में हैं। कहीं एक ही इपिक नंबर के एक से ज्यादा मतदाता मिल रहे हैं, तो कहीं एक ही पते पर तीन हजार मतदाता हैं। विपक्षी दल इन मसलों को सरकार और चुनाव आयोग को घेरने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। वे मामले को संसद में तो उठा ही रहे हैं, प्रेस कांफ्रेंस भी कर रहे हैं। संसद में तो ऐसे मामले उठाने में कोई रोक नहीं होगी लेकिन मुमकिन है कि कुछ ही समय बाद और मंचों पर ऐसे विवादों को उठाना संभव न हो।

डिजिटल प्राइवेसी और डेटा प्रोटेक्शन एक्ट-2023 यानी डीपीडीपीए के कई प्रावधान ऐसे हैं जिनसे इस मामले को उठाना अपराध की श्रेणी में रखा जा सकता है। मतदाता सूची में लोगों के नाम, पता, उम्र और तस्वीर होती है, यह लोगों की निजी जानकारी है और ऐसे आंकड़ों का संग्रह करना और इनका इस्तेमाल करने को इस कानून के प्रावधानों तहत अपराध ठहराया जा सकता है।

डीपीडीपीए संसद में 2023 में उस समय पास हुआ था जब मणिपुर हिंसा पर हंगामे के नाम पर पूरे विपक्ष को ही सदन से बाहर कर दिया गया था और विपक्ष का पूरा ध्यान प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाने पर था। बाद में सब आम चुनाव में व्यस्त हो गए तो यह कानून भी चर्चा से बाहर हो गया। इस साल सरकार फिर से सक्रिय हुई और इसके नियम तैयार करके 25 जनवरी को उन पर सुझाव मांगे गए। सुझाव पांच मार्च तक दिए जाने थे। इस बीच खबर यह है कि अब इसके नियमों को अंतिम रूप दिया जा रहा है और संसद का बजट सत्र खत्म होने के बाद किसी भी समय इसे लेकर गजट नोटीफिकेशन जारी हो सकता है और इस कानून को लेकर जो ढेर सारी चिंताएं हैं, वे हकीकत बन सकती हैं।

इस कानून से जुड़ी एक बड़ी चिंता सूचना के अधिकार यानी आरटीआई कानून को लेकर है। 2005 में बना आरटीआई कानून ने आम लोगों को सरकारी दस्तावेजों तक पहुंचने का अधिकार दिया और सरकार पर जवाबदेही का दबाव बनाया। लेकिन अब डीपीडीपीए लोगों की किसी भी तरह की निजी जानकारी हासिल करने पर पूरी तरह रोक लगा देगा भले ही वह जानकारी देश हित में ही क्यों न हो।

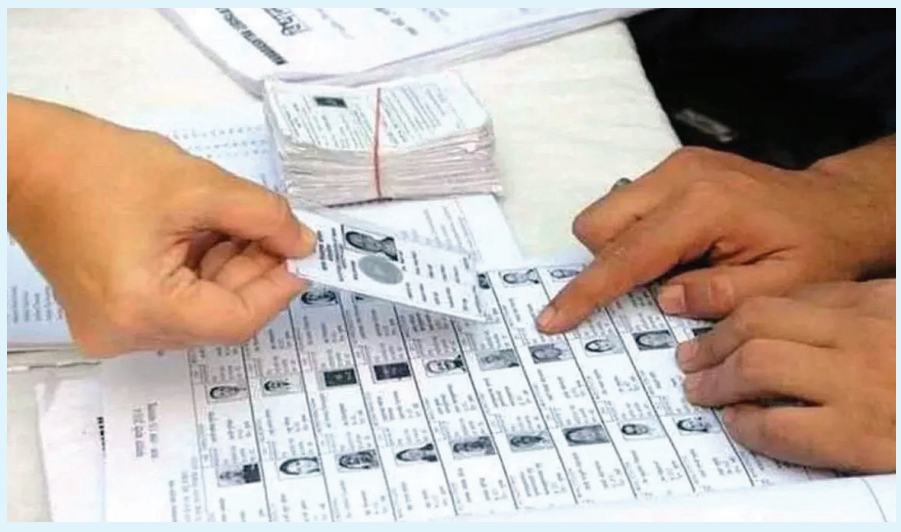

इंतजाम डेटा संरक्षण से संबंधित कानून को लेकर सरकार कुछ भी तर्क दे, उसने अपने लिए खुली छूट का इंतजाम किया है जो आम लोगों के लिए खतरनाक ही साबित होगा।

अभी तक आरटीआई कानून के तहत सरकार में बैठे लोगों की शैक्षणिक योग्यता से लेकर सरकारी ठेकों वगैरह के बारे में वे जानकारियां मांगी जा सकती थीं जो जवाबदेही और पारदर्शिता सुनिश्चित करने के लिए जरूरी हों। अब निजता के नाम पर ऐसी जानकारियों का रास्ता रोका जा सकता है। इससे भ्रष्टचार और अकुशलता को छिपाया जा सकता है।

नेशनल कैंपेन फॉर पीपुल्स राइट टू इन्फॉर्मेशन यानी एनसीपीआरआई की अंजलि भारद्वाज इस कानून की तुलना यूएपीए से करती हैं जो सीधे लोकतंत्र पर ही हमला करता है। इंटरनेट फ्रीडम फाउंडेशन के अपार गुप्ता का कहना है कि सूचना का अधिकार और निजता का अधिकार दोनों दो बहन हैं। अब इन्हें एक दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जा रहा है। निजता के अधिकार को सूचना के अधिकार के खिलाफ हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। सूचना अधिकार को लेकर लंबे समय से सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता अरुण रॉय डीपीडीपीए को एक अलग तरह से देखती हैं। वह कहती हैं कि सूचना अधिकार कानून जब से बना है, इसे कमजोर करने की कोशिशें लगातार हुई हैं। इसमें जब भी संशोधन की कोशिश हुई, काफी विरोध हुआ। अब इस पर समानांतर हमला किया जा रहा है। वह कहती हैं, 'कई बार इस तरह के समानांतर हमले सीधे हमलों के मुकाबले ज्यादा खतरनाक होते हैं।'

लोकतंत्र के लिए लड़ाई में मीडिया और पत्रकार सबसे आगे होते हैं, नया कानून उनके लिए नई परेशानियां खड़ी करने वाला है। यूरोपियन यूनियन के डाटा संरक्षण कानून में पत्रकारों को यह रियायत दी गई है कि उनके खिलाफ इस कानून के तहत मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। लेकिन भारत का कानून उन्हें ऐसी कोई राहत या रियायत नहीं देता। इससे खासकर उन पत्रकारों के लिए दिक्कत खड़ी हो सकती है जो सत्ता के दुरुपयोग जैसे मामलों को उजागर करते हैं। डीपीडीपीए के तहत उन्हें डेटा फिड्यूसरी यानी डेटा एकत्र करने वाला घोषित किया जा सकता है जो लोगों का निजी डेटा जमा कर रहा है। इसके बाद डेटा प्रोटेक्शन बोर्ड उन पर 250 करोड़ रुपये का जुर्माना लगा सकता है।

प्रख्यात वकील प्रशांत भूषण इस मामले को दूसरी तरह से देखते हैं। यह कानून हालांकि इस मकसद से नहीं बनाया गया कि इसे पत्रकारों के खिलाफ इस्तेमाल करना है, लेकिन इसकी शब्दावली इतनी व्यापक है कि इसे जरूरत पड़ने पर किसी भी पत्रकार के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है।

एक समस्या कंसेंट यानी सहमति को लेकर भी है। अगर आप किसी के बारे में कोई जानकारी लेते हैं और उसे प्रकाशित करते हैं, तो इस कानून के हिसाब से आपको उसकी कसेंट लेनी होगी। जरूरत पड़ने पर सबूत भी देना होगा। पत्रकार और प्रेस क्लब ऑफ इंडिया की कार्यकारिणी सदस्य प्रज्ञा सिंह कहती हैं, 'मैं लोगों से बात करने या उनका इंटरव्यू लेने जाती रहती हूं। ऐसा नहीं हो सकता कि मैं अपने साथ कंसेंट फॉर्म लेकर घूमूं।'

मशहूर अर्थशास्त्री जयति घोष एक दूसरे खतरे की ओर इशारा करती हैं। वह कहती हैं कि अगर डाटा जमा करना और उसे प्रकाशित करना अपराध की श्रेणी में आ सकता है, तो किसी भी तरह का अकादमिक शोध नामुमकिन हो जाएगा। डीपीडीपीए सरकार के हाथ लगने वाली दुधारी तलवार है। एक तरफ तो वह निजता की बात करती है, दूसरी तरफ अपने निजता के नाम पर अपने कईं कृत्यों छुपा भी सकती है। निजी पक्ष के लिए इस कानून में लोगों का डेटा जमा करने, उनकी सहमति लेने और डाटा प्रोसेसिंग के लिए बहुत से प्रावधान हैं लेकिन सरकार के लिए खुल छूट है कि वह डेटा का किसी भी तरह का इस्तेमाल कर सकती है। जनवरी में पेश किए गए मसौदे के के तहत सरकारी अधिकारी किसी भी नागरिक को जानकारी दिए बिना उसकी सारी सूचनाएं देश की सुरक्षा, सार्वभौमिकता या एकता के नाम पर किसी भी डेटा फिड्यूसरी से ले सकती है।

सबसे बड़ी चिंता यह है कि इस कानून में डेटा फिड्यूसरी की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है, जबकि यह इस कानून का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है। बिना किसी स्पष्ट परिभाषा के सरकार द्वारा नियुक्त डेटा प्रोटेक्शन बोर्ड को यह निरंकुश अधिकार मिल जाता है कि वह किसी भी पत्रकार, शोधार्थी या कार्यकर्ता को डेटा फिड्यूसरी घोषित कर दे। ऐसे प्रावधानों की वजह से यह निजता को संरक्षित करने वाला कानून नहीं रह जाता बल्कि इसके नियंत्रण का औजार बनने का पूरा खतरा निहित है।

सबसे पहले सरकार डेटा प्रोटेक्शन बिल लेकर आई थी, तब सदन में हुए भारी विरोध के बादे उसे संयुक्त संसदीय समिति के हवाले कर दिया गया था। इस संसदीय समिति की सदस्य रहीं तृणमूल कांग्रेस की सांसद महुआ मोइत्रा बताती हैं- हमने इस बिल में संशोधन के लिए 80 पेज की सिफारिशें की थीं, लेकिन सरकार ने उन्हें कूड़ेदान के हवाले कर दिया। इस बीच विभाग के मंत्री भी बदल गए और सरकार ने डीपीडीपीए नाम से बिलकुल ही नया कानून बनाया जिसे संसद में पास भी करा लिया गया। समिति के एक और सदस्य संसद सदस्य तरुण गोगोई इसमें जोड़ते हैं- हमने जो चर्चाएं की थीं उनमें सूचना के अधिकार का कहीं कोई जिक्र नहीं हुआ था, लेकिन नए कानून में इसे भी जोड़ दिया गया। इससे भी सरकार की नीयत पर सवाल तो खड़े होते ही हैं।

यह कानून सारी सत्ता केन्द्र सरकार के हाथ में केन्द्रित करता है। कई देशों में इसके लिए स्वतंत्र नियामक का प्रावधान हैं लेकिन हमारे यहां एक डेटा प्रोटेक्शन बोर्ड बनेगा जो पूरी तरह सरकार के इशारों पर चलेगा, जो डिजिटल भविष्य की ओर बढ़ते भारत में डेटा संरक्षण और लोकतांत्रिक आजादी दोनों को ही बहुत कमजोर धरातल पर खड़ा कर देगा। ■

राज्य 360° महाराष्ट्र

क्या कहती है कामरा के प्रति भाजपा की मौन प्रतिक्रिया

सारा ध्यान शिंदे केन्द्रित करीब एक मिनट लंबे गाने पर। बड़े हिस्से में भाजपा सरकार, पार्टी नेताओं और प्रधानमंत्री का मजाक उड़ाने पर नहीं

नवीन कुमार

कुणाल कामरा के नए वीडियो 'नया भारत' पर भाजपा की प्रतिक्रिया न आने के क्या मायने हैं? भाजपा नेताओं, समर्थकों और मुख्यमंत्री देवेन्द्र फडणवीस का जरूरत से ज्यादा ध्यान एकनाथ शिंदे पर करीब एक मिनट लंबे गाने पर गया, जबकि 45 मिनट के वीडियो के बड़े हिस्से में भाजपा सरकार, पार्टी नेताओं और प्रधानमंत्री का मजाक उड़ाया गया है। इस पर भाजपा की प्रतिक्रिया न के बराबर ही रही है। लगता नहीं कि पार्टी को पूरे वीडियो से कोई नाराजगी है जिसमें ईडीऔर सीबीआई को लेकर तीखी टिप्पणियां की गई हैं। उन्हें प्रधानमंत्री को तानाशाह कहने पर भी कोई आपत्ति नहीं लगती। गुजरात और मणिपुर को लेकर भाजपा के मुख्यमंत्रियों पर की गई टिप्पणियों से भी उन्हें कोई दिक्कत नहीं नजर आई।

इस सबके बजाय भाजपा को ज्यादा गुस्सा कामरा के शिंदे पर हमले से आया। मुख्यमंत्री फडणवीस ने शिंदे को 'गद्दार' कहने पर विधानसभा में कामरा से माफी मांगने की मांग की। शिवसेना (शिंदे) के मंत्री योगेश कदम और गुलाब पाटिल ने चेतावनी दी कि कामरा को इसकी कीमत चुकानी पड़ सकती है, उनके बैंक खातों और कॉल डिटेल की जांच की जा सकती है जबकि भाजपा के मंत्री और विधायक अपेक्षाकृत शांत रहे। एकनाथ शिंदे को यह बताना पड़ा कि वीडियो में केवल उन्हें ही नहीं निशाना बनाया गया बल्कि प्रधानमंत्री, उद्योगपति (मुकेश अंबानी और आनंद महिन्द्रा) और गृह मंत्री को भी कामरा ने नहीं बख्शा है।

वीडियो में शिंदे द्वारा पूर्व मुख्यमंत्री उद्धव ठाकरे के पिता बाला साहेब ठाकरे के नाम के 'दुरुपयोग' की बात को लेकर शिंदे समर्थक गुस्से में हैं जबकि भाजपा समर्थकों ने चुप्पी साध रखी है। इटली की प्रधानमंत्री मेलोनी के प्रति प्रधानमंत्री के कथित आकर्षण पर कामरा के तीखे हमलों से भी उनकी चुप्पी नहीं टूटी। वीडियो में चार गाने भाजपा और उसकी सरकार का मजाक उड़ाने वाले हैं। इसके बावजूद भाजपा की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं आई।

फडणवीस और शिंदे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सीमा पर बात करते हैं और कहते हैं कि यह कोई लाइसेंस नहीं है। उन्होंने दूसरे को बदनाम करने की बजाय जिम्मेदारी की भावना की आवश्यकता पर बल दिया। लेकिन वे अपने साथियों द्वारा नफरत फैलाने वाले भाषणों पर कोई कार्रवाई न करने को भूल गए। पिछले साल महाराष्ट्र में कम-से-कम 210 नफरत भरे भाषण दर्ज किए गए जिनमें से कुछ मंत्री और विधायक भी थे जिन्होंने मुसलमानों को क्रूर हिंसा, बहिष्कार और विनाश की धमकी दी। फडणवीस और शिंदे ने ऐसा करने वालों से कभी माफी मांगने के लिए नहीं कहा।

राजनेता अपने भाषण और कार्य के लिए जवाबदेह नहीं हैं लेकिन चाहते हैं कि हास्य कलाकार को अपने चुटकुलों के लिए जवाबदेह हों। पुलिस की मौजूदगी में शिंदे समर्थकों द्वारा की गई बर्बरता की न फडणवीस और न ही शिंदे ने निंदा की। हिंसा रोकने में विफल रही पुलिस पर भी कुछ नहीं कहा। इसके विपरीत बीबीसी से बात करते हुए शिंदे ने कहा कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। स्तंभकार सुहास पलशिकर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि कोई मुख्यमंत्री हिंसक हमले के बारे में बात न करके स्वतंत्रता के उपयोग पर बात करके मुद्दे को कैसे टाल सकता है।

कामरा ने यह कहकर अपमान को और बढ़ा दिया कि उन्होंने वही दोहराया है जिसमें दूसरे उप मुख्यमंत्री अजीत पवार ने शिंदे के बारे में 'गद्दार' कहा था। वह सोशल मीडिया पर रोजाना एक गाना, वीडियो से छोटी क्लिप जारी करके राजनेताओं को शर्मिंदा करना जारी रखे हुए हैं। हैबिटेट कॉमेडी क्लब जहां जनवरी 2025 में मूल शो आयोजित किया गया था, के एक हिस्से को ध्वस्त करने में बृहन्मुंबई नगर निगम (बीएमसी) घुटनाटेकू प्रतिक्रिया पर मुंबईकरों की भी अप्रत्याशित प्रतिक्रिया सामने आई है। अगर मुंबई के किसी अवैध अतिक्रमण को हटाना है, तो बस किसी कॉमेडियन को बुलाना होगा। बीएमसी का कोई सहायक आयुक्त आएगा और अवैध ढांचे को ध्वस्त करा देगा। एक नागरिक का कहना था कि मेरा बीएमसी एक बड़ा मजाक है। हालांकि अभी तक किसी ने भी कामरा को लेकर भाजपा की चुप्पी पर कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया नहीं दी है।

***

भाजपा के शीर्ष नेताओं से अपनी निकटता के लिए जाने जाने वाले पार्टी समर्थक टीवी प्रस्तोता और चैनल मालिक रजत शर्मा अपने मासूमियत भरे ट्वीट में कहते हैं कि शिंदे को पहले भी 'गद्दार' कहा गया था, अब इतना गुस्सा क्यों? दरअसल, उद्धव ठाकरे के वफादारों ने पार्टी से अलग होने के बाद शिंदे और उनके विधायकों का मजाक उड़ाने के लिए 'पन्नास खोके, एकदम ओके' का मुहावरा प्रचलित किया था। शर्मा ने शिंदे के वफादार शिवसैनिकों द्वारा की गई हिंसा की भी निंदा की। संभव है कि शर्मा और भाजपा के वफादारों ने शिंदे पर हमला केन्द्रित कर भाजपा पर कामरा के हमलों से ध्यान हटाने की कोशिश की हो या हो सकता है कि यह राजनीतिक परिपक्वता और असहमति को स्वीकार का संकेत हो जिसकी कोई संभावना नहीं लगती। ऐसी कोशिश शिंदे की सार्वजनिक छवि को और भी खराब करने के लिए की जा सकती है। कामरा के गीत पहले से ही उद्धव ठाकरे के वफादारों द्वारा सड़कों पर गाए जा रहे हैं। स्थानीय निकाय चुनावों में शिंदे के खिलाफ तीखे व्यंग्य का इस्तेमाल किया जाना भी तय माना जा रहा है। भाजपा और फडणवीस खुशी-खुशी शिंदे को हाशिये पर धकेलने का प्रयास करेंगे। इसीलिए उन पर व्यंग्यात्मक हमले तेज किए गए हैं। शिंदे भी इस बात से सहमत लगते हैं कि कॉमेडियन को उन पर हमलों के लिए धन दिया गया है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि वीडियो में ऐसी बहुत सी सामग्री है जिसके जरिये शिवसेना (यूबीटी) शिंदे को निशाने पर ले सकती है जो पहले से ही एनडीए में खुद को घिरा हुआ महसूस कर रहे हैं। हालांकि उन अटकलों पर अभी कोई स्पष्टता नहीं है कि विपक्षी एकता को तोड़ने के लिए भाजपा शिंदे को छोड़कर फिर से उद्धव ठाकरे के पास जाना चाहती है। क्या यह शिंदे को उनकी जगह दिखाने की साजिश का हिस्सा हो सकता है?

इससे भी ज्यादा भयावह बात यह है कि फडणवीस ने शहरी नक्सलियों और राजनीतिक व्यंग्य के बीच समानता दर्शाई है। उन्होंने कहा कि कामरा का व्यंग्य शहरी नक्सलियों के हमलों जैसा है। बीते कई महीनों से मुख्यमंत्री का यह पसंदीदा विषय रहा है कि नक्सली अब शहरी इलाकों में घुस आए हैं। ग्रामीण इलाकों से उखाड़े गए शहरी नक्सल नए खतरे हैं। हालांकि एक मराठी पत्रकार ने आश्चर्य जताया कि आखिर एक शहरी नक्सली को शिंदे को देशद्रोही कहने के पीछे क्या उद्देश्य हो सकता है, फडणवीस को हल्के में नहीं लिया जा सकता।

शहरी नक्सलवाद से निपटने के राज्य में एक नया कानून बनाया जा रहा है। सरकार ने इस पर जनता से राय भी मांगी है। इस कानून में कठोर दंड का प्रावधान किया जाना है। इसे विधानसभा के अगले सत्र में पेश किया जाना है। फिलहाल महाराष्ट्र नक्सली हिंसा के लिए नहीं जाता है। ऐसे में शहरी नक्सलियों पर राज्य सरकार द्वारा किया गया हमला संदेहास्पद लगता है। यह राजनीतिक असंतोष को दबाने के उद्देश्य से प्रेरित लगता है।

फडणवीस ने मीडिया पर निगरानी के लिए एक सेल या समिति बनाने का विचार भी पेश किया है ताकि सरकार की आलोचना करने वाली खबरें लिखने और प्रकाशित करने वालों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की जा सके। इसको लेकर राज्य के पत्रकारों में चिंता है। ऐसे काले कानून कैसे रोका जा सकता है, इस पर चर्चा के लिए बैठकें की जा रही हैं। बतौर मुख्यमंत्री उनके पिछले कार्यकाल के दौरान ही वकीलों, कार्यकर्ताओं, गायकों और पत्रकारों को भीमा कोरेगांव मामले में फंसाया गया और जेल भेजा गया था। ऐसा लगता है कि अब दूसरे कार्यकाल में वह व्यापक हमले की तैयारी में हैं। ■

असली निशाना कुणाल कामरा तो बहाना है। असली निशाना उप मुख्यमंत्री एकनाथ शिंदे हैं जिन्हें भाजपा किनारे लगाने पर तुली है। तभी तो मुख्यमंत्री से लेकर भाजपा नेता तक वीडियो में प्रधानमंत्री की तीखी आलोचना को लेकर कुछ नहीं कहा जा रहा है।

> राजनेता अपने भाषण और कार्य के लिए जवाबदेह नहीं हैं लेकिन चाहते हैं कि हास्य कलाकार अपने चुटकुलों के लिए जवाबदेह हों। पुलिस की मौजूदगी में शिंदे समर्थकों द्वारा की गई बर्बरता की न फडणवीस और न ही शिंदे ने निंदा की। हिंसा रोकने में विफल रही पुलिस पर भी कुछ नहीं कहा

बोधगया पर फिर पुराने विवाद का साया

बौद्ध एक सदी से भी ज्यादा समय से इस 200 साल पुराने परिसर पर 'पूर्ण नियंत्रण' की मांग कर रहे हैं

अब्दुल कादिर

क्या बौद्ध 'हिन्दू' हैं? हां वे हैं! बोधगया में महाबोधि महाविहार के मुख्य पुजारी न सिर्फ यह दावा करते हैं, विजयी मुद्रा में यह भी कहते हैं कि बुद्ध तो विष्णु के 9वें अवतार थे और बौद्ध हमारे 'भाई' हैं। बौद्ध इस पर नाराजगी जताते हुए कहते हैं कि अगर ऐसा ही है, तब तो बौद्धों को भी महाविहारों के प्रबंधन में हिस्सेदारी मिलनी चाहिए। उनका कहना है कि बुद्ध वैदिक अनुष्ठानों के खिलाफ थे, फिर भी बोधगया में मंदिर में 'हिन्दू' अनुष्ठान जारी हैं। उन्होंने कहा कि बौद्धों के पास 'मंदिर' नहीं हैं और उनके लिए यह पवित्र स्थान महाबोधि महाविहार है।

इन सबसे बढ़कर, बौद्धों को बिहार सरकार की वह व्यवस्था स्वीकार नहीं है, जिसके तहत इसकी प्रबंधन समिति में चार हिन्दुओं और चार बौद्धों को नामित कर दिया गया है। बिहार विधानसभा में पारित बोधगया मंदिर अधिनियम, 1949 (बिहार अधिनियम 17, 1949) के तहत, जिसका उद्देश्य बोधगया महाविहार और उससे जुड़ी संपत्तियों के प्रबंधन में सुधार करना है, समिति का अध्यक्ष हमेशा गया के जिलाधिकारी होते हैं। 2013 तक कानून में प्रावधान था कि जिलाधिकारी अगर गैर-हिन्दू हुआ, तो उस स्थिति में सरकार अध्यक्ष पद पर किसी हिन्दू को नियुक्त करेगी। 2013 में नीतीश कुमार, जो उस समय खुद को बौद्ध कहते थे, के द्वारा कानून में किए गए एक संशोधन से नई व्यवस्था बनी कि जिलाधिकारी किसी भी धर्म के हों, अध्यक्ष वही होंगे। तब से अब तक गया में कोई गैर-हिन्दू जिलाधिकारी नियुक्त नहीं किया गया है।

बौद्ध कम-से-कम पिछले 125 वर्षों से पवित्र परिसर पर 'पूर्ण नियंत्रण' की मांग कर रहे हैं। यह मुद्दा इतना गर्माया कि 1922 में कांग्रेस के गया अधिवेशन में भी इसकी गूंज सुनाई दी थी। तब यह परिसर बोधगया में शैव मठ के प्रमुख की निजी संपत्ति थी। पवित्र स्थल के नियंत्रण को लेकर हिन्दुओं और बौद्धों के बीच टकराव के समाधान के लिए डॉ. राजेंद्र प्रसाद की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई थी। 1949 के अधिनियम ने बुद्ध के ज्ञान प्राप्त वाले स्थल को कथित तौर पर हड़पने वाले बोधगया के महंत को ही प्रबंध समिति का एकमात्र स्थायी सदस्य बना दिया।

भारत में सभी धर्म "अपने धार्मिक स्थलों की देखभाल और प्रबंधन स्वयं करते हैं", तो फिर बौद्ध धार्मिक स्थल की समिति में हिन्दू क्यों शामिल हैं? 1949 के अधिनियम को चुनौती देते हुए 2013 में दो बौद्ध भिक्षुओं ने इस आशय की याचिका सर्वोच्च न्यायालय में दायर की थी, लेकिन 13 साल से ज्यादा वक्त गुजर जाने के बाद भी अब तक इसे सूचीबद्ध नहीं किया गया है। इससे निराश होकर देश भर के बौद्धों ने पिछले साल लद्दाख से लेकर अरुणाचल प्रदेश और महाराष्ट्र से लेकर दक्षिणी राज्यों तक फिर से आंदोलन शुरू कर दिया। परिसर के एक कोने में शांतिपूर्वक, उपवास और ध्यान के साथ अहिंसक विरोध कर रहे बौद्धों के इस समूह पर पहले तो किसी ने ध्यान नहीं दिया। फिर पुलिस ने 27 फरवरी 2025 की आधी रात को उपवास पर बैठे दो दर्जन से अधिक भिक्षुओं को वहां से हटने और परिसर से बाहर जाने पर मजबूर कर दिया। तब से देश भर से बौद्ध धर्मावलंबियों के जत्थों का विरोध प्रदर्शन में शामिल होने के लिए बोधगया पहुंचने का सिलसिला जारी है।

विरोध प्रदर्शन मीडिया की सुर्खियां शायद इसलिए भी नहीं बन सका कि बौद्धों की चुनाव में कोई खास गणना नहीं होती है। भारत में बौद्धों की कुल संख्या अनुमानतः 10 मिलियन, यानी एक करोड़ के आसपास है। 2011 की जनगणना में यह संख्या 87 लाख दर्ज हुई जो देश में आसमान रूप से फैली हुई है। हालांकि दुनिया भर में बौद्धों की संख्या लगभग 48.80 करोड़ (488 मिलियन) होने का अनुमान है, लेकिन बिहार में, जहां इस साल के अंत में नई विधानसभा के लिए चुनाव होने हैं, बौद्धों की गिनती न होने से यह मीडिया की चर्चा से दूर है। प्रबंध समिति को भी शायद इस प्रतीकात्मक विरोध से खास अंतर नहीं पड़ता, जिसके कुछ सदस्य मजाक उड़ाते हुए कहने से नहीं चूकते कि 1949 से पहले सदियों तक इसका 'स्वामित्व' और 'संरक्षण' हिन्दुओं के हाथ में ही तो रहा है।

***

बोधगया परिसर बौद्धों के लिए इसलिए पवित्र है कि वह 'बोधि वृक्ष' यहीं है, जिसके नीचे राजकुमार सिद्धार्थ को ज्ञान प्राप्त हुआ और वे बुद्ध बन गए। महाविहार का निर्माण बुद्ध के निर्वाण के लगभग 200 साल बाद मौर्य सम्राट अशोक ने तब कराया था जब कलिंग युद्ध के पश्चात उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया। पटना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इम्तियाज अहमद सहित मध्यकालीन इतिहास के कई अन्य विद्वानों का कहना है कि 13वीं शताब्दी तक अनेक वर्षों तक इसका प्रबंधन बौद्धों के अधीन रहा। यूनेस्को के अनुसार, अंग्रेजों द्वारा जीर्णोद्धार शुरू करने से पूर्व 13वीं और 18वीं शताब्दी के बीच मंदिर को उसके हाल पर छोड़ दिया गया।

हालांकि मंदिर की वेबसाइट का दावा है कि एक हिन्दू भिक्षु घमंडी गिरि 1590 में आए और वहां रहने लगे। उन्होंने अनुष्ठान करना शुरू किया और हिन्दू विहार, बोधगया मठ की स्थापना की। तब से, यह महाविहार गिरि के वंशजों के नियंत्रण में रहा है। 19वीं सदी के अंत में, श्रीलंका और जापान के बौद्ध भिक्षुओं ने इस स्थल को पुनः हासिल करने के आंदोलन को एक नेतृत्व देने की मंशा से महाबोधि सोसाइटी की स्थापना की। इन्हीं प्रयासों का नतीजा था कि 1903 में भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्जन ने हिन्दू और बौद्ध पक्षों के बीच समझौता कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। बोधगया मठ की देखभाल करने वाले हिन्दू पुजारी स्वामी विवेकानंद गिरि इस आंदोलन को "राजनीति से प्रेरित" बताते हैं। उन्होंने इस महीने की शुरुआत में अल जजीरा से कहा, "हमारे मठ की शिक्षा कहती है कि भगवान बुद्ध, भगवान विष्णु के नौवें अवतार हैं और हम बौद्धों को अपना भाई मानते हैंहम वर्षों से दूसरे देशों से आए बौद्ध भक्तों की मेजबानी करते आए हैं और उन्हें परिसर में प्रार्थना करने से कभी नहीं रोका है।" उन्हें यह कहते हुए भी बताया गया है कि हिन्दू पक्ष ने प्रबंधन समिति में बौद्धों को चार सीटें देकर "उदारता" का परिचय दिया है।

प्रदर्शनकारियों पर कटाक्ष करते हुए गिरि ने कहा, "अगर आप 1949 का अधिनियम निरस्त करते हैं, तो यह पूरी तरह से हिन्दू पक्ष का होगा क्योंकि अधिनियम और भारत की स्वतंत्रता से पहले इस पर हमारा ही मालिकाना हक था। मुस्लिम शासकों के आक्रमण के बाद बौद्धों ने इसे छोड़ दिया, तब इसको हमने संरक्षित किया और इसकी देखभाल की। फिर भी हमने कभी भी बौद्ध आगंतुकों को 'अलग' नहीं माना।"

आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दू और विश्व हिन्दू परिषद गर्भगृह में एक 'शिवलिंग' के कथित अस्तित्व की ओर इशारा करके अपने दावे को मजबूती प्रदान करना चाहते हैं। बौद्ध लोग इसका उपहास उड़ाते हुए कहते हैं कि विहिप जिसे शिवलिंग के रूप में देख रहा है, वह वास्तव में एक टूटा हुआ आसन है। शोधकर्ता और प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रोफेसर प्रो पीसी रॉय (अब दिवंगत) का भी मानना था कि 'शिवलिंग' का कोई सबूत नहीं था और जिस वस्तु के बारे में दावा किया जा रहा था, उसमें वास्तविक 'शिवलिंग' जैसी कोई भी खासियत नहीं मिली।

परिसर को लेकर समय-समय पर कुप्रबंधन के आरोप भी सामने आते रहे हैं; और इस दिशा में सबसे गंभीर आरोपों में से एक यह है कि प्रबंध समिति यूनेस्को द्वारा निर्धारित दिशा-निर्देशों का पालन करने में विफल रही है, जिसने 2002 में इसे 'विश्व धरोहर' स्थल घोषित किया था। इसके संरक्षण/रखरखाव और इसके परिवेश को बनाए रखने के दिशा-निर्देशों में एक बफर जोन बनाना भी शामिल है, जहां किसी तरह का निर्माण प्रतिबंधित रहेगा। यूनेस्को की यह भी सलाह थी कि इससे एक किलोमीटर के क्षेत्र में एक निश्चित ऊंचाई की केवल एक मंज़िला संरचनाएं ही हों और ऊंची इमारतों के निर्माण की अनुमति न दी जाए। अनायास नहीं है कि 2002 में किए गए वायदे के अनुरूप न तो अभी तक मास्टर प्लान तैयार हुआ और न ही अधिसूचित किया गया है। माना जा रहा है कि यह सब रियल एस्टेट माफिया के भारी दबाव का नतीजा है। ■

फोटो: ट्विटर इकेजेज

नजरंदाजी बोधगया को लेकर बौद्धों की नाराजगी और विरोध प्रदर्शन को आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता है। अगर उन्हें बिहार सरकार की व्यवस्था स्वीकार नहीं, तो उनसे बातचीत कर कोई रास्ता तो निकाला ही जा सकता है।

> यूनेस्को के अनुसार, बौद्ध महाविहार के आसपास निश्चित ऊंचाई वाली एक मंजिला संरचनाएं ही होनी चाहिए। अनायास नहीं है कि 2002 में किए गए वायदे के अनुरूप न तो अब तक मास्टर प्लान बना, न अधिसूचित हुआ। माना जा रहा है कि रियल एस्टेट माफिया भारी पड़ रहा है

प्रकाशकः **पवन कुमार बंसल**; संपादकः **राजेश झा**; **पवन कुमार बंसल द्वारा दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड,** हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली- 11002 की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रित। दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 और दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से मुद्रित।

मजबूती से चुनाव लड़ने की पटकथा लिख रही कांग्रेस

राजेश कुमार को प्रदेश अध्यक्ष चुनने और प्रभारी के रूप में कृष्णा अल्लवरु को जिम्मेदारी सौंपने से जमीनी स्तर पर आ रहा बदलाव

विश्वदीपक

फोटो: गेटी इमेजेज

मुकाबला कांग्रेस ने साफ कर दिया है कि बिहार चुनाव में वह अपने खोए हुए जनाधार को वापस पाने में कोई कसर नहीं छोड़ेगी।

पटना में किसी भी राह चलते व्यक्ति से सदाकत आश्रम का रास्ता पूछें, ज्यादा संभावना है कि उसके चेहरे पर ऐसे भाव उभर आएं जैसे वह इस नाम की किसी जगह को जानता ही न हो। लंबे-चौड़े इलाके वाला सदाकत आश्रम बिहार प्रदेश कांग्रेस समिति का मुख्यालय है लेकिन 1990 से ही यह अलसाया-सुस्ताया है, जब प्रदेश के अंतिम कांग्रेस मुख्यमंत्री सत्येंद्र नारायण सिन्हा को चुनाव में हार का सामना करना पड़ा था।

वैसे, सदाकत आश्रम का इतिहास गौरवशाली रहा है। कभी यहां एक बाग हुआ करता था जिसे इसके मालिक खैरू मियां ने मौलाना मज़हरुल हक़ को सौंपा था, जो बैरिस्टर और चंपारण सत्याग्रह के समय से ही महात्मा गांधी के करीबी थे। मज़हरुल हक़ ने अपने संसाधनों से बिहार विद्यापीठ की स्थापना की जिसकी कल्पना गांधी जी ने सरकारी नियंत्रण से मुक्त एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में की थी। यहीं स्वतंत्रता संग्राम के नेता मिलते थे, यहीं गांधी जी और कस्तूरबा रुके थे और यहीं पर पहले राष्ट्रपति डॉ राजेंद्र प्रसाद रिटायरमेंट के बाद रहे थे। राज्य की राजनीति में कांग्रेस के अवसान के साथ वे यादें धुंधली हो गई हैं।

हालांकि हाल-फिलहाल पार्टी में सुधार के संकेत जरूर दिख रहे हैं। मुख्यधारा का मीडिया बेशक राज्य में पार्टी को खत्म करार दे रहा हो, लेकिन पार्टी बदलती दिख रही है। 1980 और 1990 के बीच कांग्रेस सत्ता में थी और उसने पांच मुख्यमंत्री आजमाए। सभी ऊंची जातियों से थे- जगन्नाथ मिश्रा, चंद्रशेखर सिंह, बिंदेश्वरी दुबे, भागवत झा आजाद और सत्येंद्र नारायण सिन्हा। चुनाव से ठीक पहले जगन्नाथ मिश्रा को बमुश्किल तीन महीने के लिए मुख्यमंत्री के रूप में वापस लाया गया लेकिन कोई फायदा न हुआ। लेकिन अब फिजा में बदलाव है। पार्टी से जुड़े संगठन विरोध प्रदर्शनों में सबसे आगे दिख रहे हैं। कन्हैया कुमार की 'पलायन रोको-रोजगार दो' यात्रा की चर्चा हो रही है।

दिल्ली से पहले ट्रेन और फिर सड़क से समस्तीपुर तक यात्रा के दौरान बातचीत में लगभग सभी ने माना कि दलित प्रदेश अध्यक्ष चुनना न केवल प्रतीकात्मक बल्कि व्यावहारिक भी था। पार्टी छह फीसद रविदासी दलितों के बीच मजबूत समर्थन की उम्मीद कर रही है, जो पासवान, पासी और माझी की तुलना में राजनीतिक रूप से कम मुखर रहे हैं। राजेश कुमार रविदास समाज से हैं और जब मैं औपचारिक रूप से कार्यभार संभालने से एक दिन पहले उनसे सदाकत आश्रम में मिला, तो वह रो पड़े। उन्होंने कहा, 'यह बिहार कांग्रेस के इतिहास का महत्वपूर्ण मोड़ है।'

संशयवादी पुराने नेताओं, गुटों और अन्य चुनौतियों से निपटने की उनकी क्षमता पर संदेह करते हैं। हालांकि राजेश ने शांत भाव से कहा, 'मेरे पास 35 साल का राजनीतिक अनुभव है। 1985 से मैं घर और बाहर की राजनीतिक चर्चाओं को देखता-समझता रहा हूं।' कार्यभार संभालने जब वह सदाकत आश्रम पहुंचे, तो पहले सीढ़ियों को माथे लगाया।

यंग इंडिया के बोल

15 फरवरी को कांग्रेस अध्यक्ष मल्लिकार्जुन खड़गे ने युवा कांग्रेस के राष्ट्रीय प्रभारी कृष्णा अल्लवरु को बिहार का प्रभारी बनाया था। एक ही महीने में शांत, मृदुभाषी लेकिन तीखे अंदाज वाले कृष्णा अल्लवरु ने सबका ध्यान खींचा है। वह कई जिलों का दौरा कर पार्टी कार्यकर्ताओं से बातचीत कर चुके हैं।

'यंग इंडिया के बोल' पहल का नेतृत्व एक तरह से वही कर रहे हैं। इसका पांचवां सत्र पटना में हुआ। कई सालों से गोपनीय तरीके से संचालित यह कार्यक्रम हिन्दी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में युवा प्रवक्ताओं की पहचान करने और उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए बनाया गया है। चयन प्रक्रिया कठोर है और पारदर्शी भी। देश भर से इच्छुक उम्मीदवार भारतीय युवक कांग्रेस (आईवाईसी) ऐप के माध्यम से अपने कंटेंट वीडियो जमा करते हैं। चुनिंदा प्रतिभागियों को विभिन्न स्तरों पर बहस में भाग लेने के लिए बुलाया जाता है। पुरस्कार वितरण के बाद अल्लवरु ने कहा कि अब पार्टी प्रवक्ता बनने के लिए वरिष्ठ नेताओं के चक्कर काटने की जरूरत नहीं। अगर आपमें प्रतिभा है, पार्टी की विचारधारा को समझते हैं और प्रभावी ढंग से बहस कर सकते हैं तो आपको प्रवक्ता बनने का मंच मिलेगा।

> दलित प्रदेश अध्यक्ष चुनना व्यावहारिक भी था। पार्टी छह फीसद रविदासी दलितों के बीच मजबूत समर्थन की उम्मीद कर रही है, जो पासवान, पासी और माझी की तुलना में राजनीतिक रूप से कम मुखर रहे हैं

वक्फ बिल विवाद

नेताओं, राजनीतिक दलों, मंत्रियों, विधायकों और सांसदों की इफ्तार पार्टियों के साथ, राजनीतिक हलकों में आगामी विधानसभा चुनाव को लेकर चर्चाओं का बाजार गर्म है। 2023 के जाति सर्वेक्षण के मुताबिक राज्य में मुसलमानों की आबादी करीब 18 फीसद है। भाजपा संसद के मौजूदा सत्र में वक्फ बिल पारित कराने की उम्मीद कर रही है और चुनाव के नजरिये से यह एक गरमागरम मुद्दा है।

राजद नेता अब्दुल बारी सिद्दीकी ने इफ्तार पार्टी दी जिसमें लालू यादव, राबड़ी देवी और तेजस्वी यादव भी शामिल हुए। इसमें लोगों ने आशंका जताई की कि बिल पास होने पर मोदी सरकार वक्फ संपत्तियों पर कब्जा कर लेगी। जाले विधानसभा सीट के एक युवा नेता ने कहा, 'लाखों लोग आजीविका के लिए वक्फ संपत्तियों पर निर्भर हैं। कई वक्फ की जमीन पर छोटी दुकानें और वर्कशॉप चलाते हैं; उनका खौफ बेवजह नहीं'। इस मुद्दे की चुनावी संभावनाओं पर कांग्रेस के एक वरिष्ठ नेता ने कहा कि पार्टी ने संसद में और बाहर बिल का विरोध किया है, लेकिन हममें से कई को लगता है कि अगर बिहार में इसका पुरजोर विरोध करते हैं तो यह भाजपा को हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण में मदद करेगा। ऐसे में, चर्चा हो रही है कि बहस को किस दिशा में ले जाएं। कुछ राजनीतिक पर्यवेक्षकों को लगता है कि वक्फ मुद्दा चुनावी परिदृश्य को वैसे ही प्रभावित कर सकता है जैसे 2024 के लोकसभा चुनाव में संविधान और आरक्षण पर बहस ने किया था। हालांकि कोई नहीं जानता की ऊंट किस करवट बैठेगा। ■

"हम फिर से संवाद शुरू करेंगे तो लोग क्यों नहीं लौटेंगे"

बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के नवनियुक्त अध्यक्ष राजेश कुमार को पार्टी कार्यकर्ताओं ने घेर लिया, जब वह 23 मार्च को पटना के सदाकत आश्रम में कार्यभार संभालने पहुंचे। ऐसे समय जब विधानसभा के लिए अहम चुनाव होने हैं और गठबंधन के सहयोगी राजद के साथ कांग्रेस के रिश्ते नाजुक हैं, राजेश कुमार की नियुक्ति को बिहार में पार्टी की स्थिति को फिर से मजबूत करने के प्रयास के रूप में देखा जा रहा है, खासकर हाशिये पर पड़े समुदायों के बीच। जब वह निवर्तमान अध्यक्ष के पार्टी कार्यालय पहुंचने और उन्हें कार्यभार सौंपे जाने का इंतजार कर रहे थे, उनका फोन लगातार घनघना रहा था और मिलने वालों का तांता लगा था। फिर भी, दो बार विधायक रह चुके **राजेश कुमार** ने **विश्वदीपक** से बात करने का वक्त निकाला। बेबाक बातचीत के अंशः

चुनाव के ठीक पहले आप को बिहार कांग्रेस का अध्यक्ष नियुक्त किया गया है जबकि निवर्तमान अध्यक्ष का कार्यकाल बचा हुआ था। इसके पीछे क्या रणनीति है?

देखिए, कांग्रेस एक लोकतांत्रिक पार्टी है जिसका एक संविधान है। अध्यक्ष समेत सबके लिए नियम-कायदे हैं। इसके बावजूद पार्टी हाईकमान को जरूरत के मुताबिक पार्टी हित में फैसला (नियमों को पलटने) करने का अधिकार है। ऐसे मामले में वरिष्ठ नेता मिलकर फैसला करते हैं।

पिछले आठ साल में कांग्रेस ने बिहार में तीन अध्यक्ष बदले गए लेकिन जिला स्तर पर समितियों का भी गठन नहीं हुआ...

थोड़ा इंतजार कीजिए।

बिहार में पार्टी को खड़ा करने का राष्ट्रीय राजनीति पर असर होगा। यह एक बड़ी चुनौती है। आप यह काम कैसे करेंगे?

मेरी राजनीति की ट्रेनिंग 1981 में पिता स्वर्गीय दिलेश्वर राम और उनके राजनीतिक सहयोगियों के सानिध्य में शुरू हुई। उन दिनों घरेलू स्टाफ नहीं होते थे और बच्चे ही घर आने वालों को चाय-पानी पिलाने का काम करते थे। मेरा संगठन में काम करने का अनुभव करीब 35 सालों का है। आपको आने वाले समय में अनुभव और युवा जोश का मेल दिखेगा। निर्णय करने वालों ने शायद इसे ध्यान में रखा होगा।

सही है, आपने पार्टी को लंबा समय दिया है, लेकिन क्या कभी सोचा था कि इतनी बड़ी जिम्मेदारी मिलेगी? क्या यह फैसला अप्रत्याशित था?

(आंखें भर आती हैं) मेरे लिए यह भावुक पल है।

आपने कार्यभार संभाल लिया है। अब प्राथमिकता क्या होगी?

मेरी प्राथमिकता सबको साथ लेकर चलने की होगी- नेताओं से लेकर कार्यकर्ताओं तक को साथ लेकर एक टीम की तरह आगे बढ़ना है। जब मेरी नियुक्ति का आदेश आया तब रात के 11.30 बज रहे थे। तब मैं दिल्ली में था लेकिन मैंने तभी से काम शुरू कर दिया... लोगों से मिलना शुरू कर दिया। मैंने जिनसे भी बात की, सभी ने यह कहते हुए भरोसा दिलायाः 'हमने आपके पिता जी के साथ काम किया है। आपको भी हमारा सहयोग मिलेगा'। आज के दौर के कई वरिष्ठ नेता संगठन और सरकार में मेरे पिता जी के साथी रहे हैं। उनमें से हर एक के साथ मेरे निजी रिश्ते हैं।

आरजेडी के साथ आपका गठबंधन है और बिहार में आरजेडी बिग ब्रदर वाली भूमिका में रहती है। क्या इसे चुनौती के तौर पर देखते हैं?

यह विशुद्ध रूप से केंद्रीय नेतृत्व के अधिकार क्षेत्र का मामला है। वही फैसला करेगा।

आप दलित समुदाय से आते हैं। माना जा रहा है कि कांग्रेस अपने पुराने वोट बैंक- दलित, सवर्ण और मुसलमान- को वापस जोड़ने की कोशिश कर रही है। आप छिटक गए वोटरों को कैसे कांग्रेस से जोड़ेंगे?

मैं विनम्रता के साथ कहना चाहूंगा कि हमारे परंपरागत वोटरों ने कभी हमें नहीं छोड़ा। हां, इतना जरूर है कि हमारी पकड़ ढीली पड़ गई। जब वे हमें वोट करते थे तो हम 36 फीसद वोट पाते थे। फिलहाल तो हम जमीनी हालात पर ध्यान देंगे। देखेंगे कि किस वर्ग की क्या समस्या है और उसके बाद लोगों की समस्याओं, उनकी जरूरतों और उनकी मांगों को ध्यान में रखते हुए अपना संपर्क अभियान चलाएंगे। जब हम लोगों से उनकी वास्तविक समस्याओं पर बात करेंगे, जब हम उनके साथ संवाद फिर शुरू करेंगे तो वे हमसे भला क्यों नहीं जुड़ेंगे? आपको याद होगा कि अल्पसंख्यकों के लिए सच्चर आयोग का गठन हमने किया था। सब जुड़ेंगे और हम सबको जोड़ेंगे।

कभी गांवों में कांग्रेस का मजबूत आधार हुआ करता था। वह आधार लगभग खत्म हो चुका है। आप पार्टी को फिर से गांवों तक कैसे पहुंचाएंगे?

देखिए, मैं तो अक्सर गांव में ही रहता हूं। जब मैं गांव में ही रहूंगा तो पार्टी भी गांव में रहेगी। हमने 'पलायन रोको, नौकरी दो' यात्रा शुरू कर दी है। इससे आपको अंदाजा होगा कि हम यह काम कैसे करने जा रहे हैं।

सब जानते हैं, बिहार में जात-पात एक बड़ा मुद्दा है। राहुल गांधी अक्सर जाति जनगणना की बात तो करते हैं लेकिन बिहार में हुए सर्वेक्षण की आलोचना करते हैं। क्या पार्टी कार्यकर्ता भ्रमित हैं? आप इस मुद्दे को कैसे आगे ले जाएंगे?

हमने इस मुद्दे पर नीतीश जी का का साथ दिया था। लेकिन बात तो नीयत की है। केवल गिनती करने से क्या होता है? बिहार की जाति गणना से समाज की सच्चाई का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यही वजह है कि राहुल जी इसकी आलोचना कर रहे हैं- इसे करने का तरीका सही नहीं था।

फिर बात आती है इसे ईमानदारी से लागू करने की। नीतीश सरकार ने कोटे को बढ़ाकर 65 फीसद कर दिया लेकिन पटना हाईकोर्ट ने उसे खारिज कर दिया क्योंकि नीतीश जी ने इसके लिए संवैधानिक प्रावधानों का पालन नहीं किया। इसलिए, यह सर्वे दिखावा भर था।

बिहार कांग्रेस को भाजपा या एनडीए से अलग कैसे साबित करेंगे?

बहुत बड़ा अंतर हैः हम जनहित की बात करते है, सच्चाई की बात करते हैं, सांप्रदायिक सद्भावना की बात करते हैं। भाजपा नफरत और कार्पोरेट हित की बात करती है; वह चुनी हुई सरकार को गिराकर बहुमत चुरा लेती है। हम अपने काम से उन्हें शिकस्त देंगे। ■

बेनी फोटो: विश्वदीपक

"बिहार की पहचान बना पलायन"

बिहार में विधानसभा चुनाव से पहले कांग्रेस की 'पलायन रोको, नौकरी दो' यात्रा की चर्चा मीडिया में बेशक कम है लेकिन आम लोगों के बीच खासी सुगबुगाहट है। उत्तर बिहार में खास तौर पर लोग इस पर बात कर रहे हैं। 16 मार्च को चंपारण के गांधी आश्रम से शुरू हुई यह यात्रा 14 अप्रैल को पटना में संपन्न होगी। यात्रा का नेतृत्व कांग्रेस नेता कन्हैया कुमार कर रहे हैं। इस यात्रा में आम तौर पर कांग्रेस कार्यकर्ता और लगभग सौ बेरोजगार युवक भाग ले रहे हैं। नेशनल हेरल्ड/संडे नवजीवन के लिए **विश्वदीपक** ने समस्तीपुर के मुसरीघरारी में **कन्हैया कुमार** से बात की। संपादित अंशः

यात्रा का नाम 'बिहार जोड़ो' यात्रा या सीधे-सीधे 'रोजगार दो' यात्रा भी हो सकता था। इसका नाम 'पलायन रोको, नौकरी दो' यात्रा क्यों रखा?

इसलिए कि बिहार से जुड़ी कोई भी समस्या अंततः पलायन से ही जुड़ी है। शिक्षा की बात करें तो राज्य का इतिहास गौरवशाली है। इसे नालंदा पर गर्व है। आधुनिक समय में पटना यूनिवर्सिटी सबसे पुराने विश्वविद्यालयों में एक है, इसकी स्थापना 1907 में हुई। फिर भी, स्कूली शिक्षा तक के लिए छात्रों को बाहर जाना पड़ता है। स्वास्थ्य की बात करें तो ताजा उदाहरण एम्स का है। यूपीए सरकार ने पटना में एम्स खोला लेकिन बिहार के लोग इलाज के लिए अब भी दिल्ली एम्स जाते हैं।

तीसरा उदाहरण है श्रम का। बिहार में प्रशिक्षित कामगारों की जबर्दस्त कमी है क्योंकि यहां के लोग रोजगार और बेहतर कमाई के लिए बाहर चले जाते हैं। यहां तक कि यहां के श्रमिकों को बाहर ले जाने के लिए श्रमजीवी एक्सप्रेस भी चलती है। यहां रोजगार नहीं, बेरोजगारी दर राष्ट्रीय दर से ज्यादा है। गरीबी, असमानता और अन्याय ने समाज में संघर्ष और अव्यवस्था को बढ़ावा दिया है। प्रदेश में कानून-व्यवस्था का जो आलम है, वह सबके सामने है।

पलायन रोकने और लोगों को काम उपलब्ध कराने में नाकाम डबल इंजन की सरकार हर त्योहार पर सांप्रदायिक हिंसा को उकसा रही है। बिहार को नफरत की आग में झोंकने की कोशिश की जा रही है। इसीलिए हमने बिहार से लोगों के पलायन पर यात्रा को केन्द्रित किया।

अब तक इस मुद्दे को औरों ने सही तरीके से क्यों नहीं उठाया?

नहीं, ऐसा नहीं है। इस समस्या से सभी वाकिफ हैं और कई लोगों ने इसे अपने-अपने तरीके से उठाया भी है। यह हर संप्रदाय, हर वर्ग, हर जाति को प्रभावित करती है। ईद में जितनी मुश्किल मुसलमानों को ट्रेन में रिजर्वेशन पाने में होती है, उतनी ही हिन्दुओं को होली और छठ के दौरान होती है। पलायन किसी वर्ग या जाति तक सीमित नहीं। ब्राह्मण, दलित, ओबीसी, अमीर-गरीब सब पलायन कर रहे हैं और यह समस्या पूरे बिहार की है।

कुछ लोग बेहतर मौके की तलाश में, तो कुछ रोजी-रोजगार की मजबूरी में पलायन करते हैं। बिहार में जो हो रहा है, वह मानव निर्मित पलायन है। अगर शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार नहीं मिलेगा तो लोग पलायन करेंगे। एक आंकड़े के मुताबिक, बिहार से दो करोड़ लोग पलायन कर चुके हैं। वे उन राज्यों में भी गए हैं जहां की भाषा भी नहीं जानते जैसे तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, गुजरात और पूर्वोत्तर के राज्य।

क्या आप स्थानीय मुद्दे भी उठा रहे हैं?

हमने नीट और पेपर लीक का मुद्दा उठाया है। हमने बंद चीनी मिलों का मुद्दा उठाया है। हमने मुजफ्फरपुर में ऑटो चालक संघ के साथ बैठक की और महिला ऑटो चालकों का मुद्दा उठाया। भारत माला प्रोजेक्ट के तहत किसानों की जमीन ली गई। हमने उन्हें मुआवजा नहीं मिलने का मुद्दा उठाया।

विधानसभा चुनाव में केवल सात माह बचे हैं। संभावित असर के लिहाज से क्या इस यात्रा में देर नहीं हो गई?

कांग्रेस एक राजनीतिक दल है, कोई एनजीओ नहीं। हम बिहार में भी चुनाव लड़ेंगे। लेकिन इस यात्रा का मकसद चुनाव नहीं बल्कि जमीनी मुद्दों को समझना है ताकि घोषणापत्र में उसे शामिल कर सकें। चुनाव को लेकर सवाल तो हमेशा पूछे जाते रहे हैं। याद कीजिए 'भारत जोड़ो यात्रा', 'भारत जोड़ो न्याय यात्रा' और जब मैंने बिहार में 'जन गण मन यात्रा' की, तब भी चुनाव हो रहे थे और लोग उस समय भी ऐसे ही सवाल पूछ रहे थे।

राजनीतिक पर्यवेक्षकों का मानना है कि बिहार में कांग्रेस की मजबूती का मतलब है गठबंधन के सहयोगियों का कमजोर होना। आपका क्या मानना है?

कांग्रेस राज्य में पिछले 35 साल से सत्ता में नहीं है। जाहिर है, हमें लोगों के साथ फिर से जुड़ना है। यह कांग्रेस की परंपरा है। जिन लोगों की संविधान को बचाने में दिलचस्पी है और इस मुद्दे से खुद को जोड़कर देखते हैं, उम्मीद है कि वे कांग्रेस के मंच का उपयोग करेंगे।

आप पर आरोप है कि 2019 का लोकसभा चुनाव हारने के बाद आप बिहार से गायब हो गए?

ऐसा नहीं है। 2019 में चुनाव लड़ने के बाद मैंने सीपीआई के बैनर तले 'जन गण मन यात्रा' की। तब मैं कांग्रेस में नहीं था। लेकिन महागठबंधन के लिए प्रचार किया। तब मैंने राजद, लेफ्ट और कांग्रेस के लिए भी प्रचार किया। उसके बाद कोविड के कारण राजनीतिक गतिविधियां नहीं हुईं। फिर मैं भारत जोड़ो यात्रा और भारत जोड़ो न्याय यात्रा में शामिल हुआ और फिर 2024 का चुनाव लड़ा। लोगों ने बिहार छोड़कर मेरे दिल्ली से चुनाव लड़ने की आलोचना की। चुनाव तो कोई कहीं से भी लड़ सकता है, खास तौर पर लोकसभा चुनाव। आलोचना इस यात्रा के जरिये उठाए जा रहे वास्तविक मुद्दों से ध्यान भटकाकर एक व्यक्ति पर केन्द्रित करने के लिए था।

लोग आपकी तुलना तेजस्वी यादव से करते हैं। कहते हैं कि आपके बढ़ते कद से कांग्रेस और गठबंधन के कुछ गुट असहज हैं। आप क्या कहेंगे?

यह यात्रा न तो मेरे बारे में है, न तेजस्वी के बारे में। शायद यह नैरेटिव मीडिया ने फैलाया है जिसे बस मसाला चाहिए जबकि पलायन, रोजगार और शिक्षा जैसे मुद्दों में कोई मसाला नहीं। यह यात्रा किसी एक पार्टी या किसी एक नेता के लिए नहीं बल्कि इसलिए है कि जमीनी हालात, लोगों की दिक्कतों को समझकर उनके समाधान के बारे में सोच सकें। यह कोई लोकप्रियता की प्रतियोगिता नहीं। ■

हिन्दी विरोध में भाजपा के लिए कई संदेश

आखिर तमिलनाडु को केन्द्रीय निधि गंवाने की कीमत पर भी अपने संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करना क्यों मंजूर है?

अशोक स्वैन

भारत में स्थायी बन चुका भाषा संघर्ष एक बार फिर राष्ट्रीय एकता और आर्थिक समानता के लिए गंभीर खतरे के तौर पर उभरा है। केन्द्र की भाजपा सरकार द्वारा हिन्दी को एक प्रमुख भाषा के तौर पर थोपने के नए प्रयास पर, तमिलनाडु से खास तौर पर तीव्र प्रतिरोध सामने आया है। इलाकाई तकरार से दूर, भाषा नीति पर यह संघर्ष भारत के संघीय ढांचे, लोकतांत्रिक मूल्यों और समावेशी विकास के मूल पर आघात करने वाला है।

भाषा के मामले में तमिलनाडु का रवैया हमेशा से बहुत दृढ़ रहा है। ज्यादा दिन नहीं हुए जब मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन ने भाजपा सरकार की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) को "नागपुर की विनाशकारी योजना" करार देते हुए सिरे से खारिज कर दिया था। यह अलग बात है कि केन्द्र से इसके बदले में 10,000 करोड़ रुपये (फंडिंग) की पेशकश भी थी। उनकी सरकार ने अपनी द्विभाषा नीति (तमिल और अंग्रेजी) के प्रति प्रतिबद्धता फिर से दोहराई, जो राज्य में मजबूत शैक्षिक और आर्थिक नतीजे देने में सफल रही है।

तमिलनाडु के आईटी और डिजिटल सेवा मंत्री पलानीवेल त्याग राजन (पीटीआर) सरकार के रुख का समर्थन करते हुए केन्द्र के त्रिभाषा फॉर्मूले को खारिज करने में विशेष रूप से और मुखर होकर सामने आए। पीटीआर का कहना था कि असल मुद्दा भाषा की पढ़ाई या अध्ययन में नहीं, बल्कि संवैधानिक रूप से राज्यों को मिले उनके अधिकार क्षेत्रों का केन्द्र के द्वारा अतिक्रमण की मंशा में है। हिन्दी थोपे जाने के खिलाफ तमिलनाडु के अनवरत प्रतिरोध के गुणसूत्र इसके अतीत के हिन्दी विरोधी प्रदर्शनों में निहित हैं और जो इसकी सांस्कृतिक विरासत और विकास के प्रति प्रतिबद्धता का प्रतिफलन है।

भारत में भाषा संघर्ष महज प्रतीकात्मक हो, ऐसा नहीं है- इसके महत्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक निहितार्थ हैं। जैसा कि पीटीआर का तर्क है, तीसरी भाषा लागू करने से ग्रामीण और हाशिये के समाज से आने वाले छात्रों पर असंगत रूप से बोझ पड़ेगा, जो पहले से ही बुनियादी शिक्षा तक अपनी पहुंच बनाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे में खतरा इस बात का ज्यादा है कि 'भाषाई विविधता' हमारी ताकत बनने के बजाय प्रतिरोध का औजार न बन जाए।

तमिलनाडु का यह प्रतिरोध संघवाद के एक बड़े संकट की ओर भी इशारा करता है। केन्द्र द्वारा सशर्त फंडिंग का बढ़ता इस्तेमाल, यानी 'वित्तीय सहायता को नीति अनुपालन से जोड़ना' किसी जोर-जबरदस्ती जैसा है। पीटीआर ने इसकी तुलना "जबरन उगाही" से की और कहा कि तमिलनाडु को केन्द्रीय निधि गंवाने की कीमत पर भी अपने संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करना मंजूर है। दरअसल, यह प्रतिरोध महज भाषा को लेकर नहीं, बल्कि विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत की रक्षा के लिए भी है, जो भारत के बहुलतावादी लोकतंत्र और उसके संविधान के मूल में निहित है।

भाषा का मुद्दा दुनिया के किसी भी कोने में, कहीं भी सबसे जटिल और चुनौतीपूर्ण मुद्दों में से एक रहा है। धार्मिक, जातीय या क्षेत्रीय विभाजनों के विपरीत, जो प्रायः विशिष्ट सामाजिक या सांस्कृतिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहते हैं, भाषा शिक्षा और रोजगार से लेकर राजनीतिक भागीदारी ही नहीं, दैनिक जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती है।

भाषाई वर्चस्व ऐसे लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति को भी मजबूत बनाता है, प्रमुख भाषाओं पर जिनका वर्चस्व है या जो प्रमुख भाषा बोलते हैं। शिक्षा और रोजगार तक पहुंच को नियंत्रित करके समाज के प्रमुख भाषा-भाषी लोग राजनीतिक और आर्थिक संस्थानों पर असंगत प्रभाव बनाने में सफल हो जाते हैं। यानी भाषा पर संघर्ष महज सांस्कृतिक विरासत या संरक्षण से उपजा सवाल नहीं, बल्कि यह आर्थिक अस्तित्व और राजनीतिक प्रतिनिधित्व का मामला भी है, जो इसे धार्मिक या जातीय विभाजन से भी ज्यादा असरकारी मुद्दा बना देता है।

भाषाई विविधता के साथ भारत का संघर्ष अनूठा नहीं है; दुनिया भर में ऐसे संघर्ष हुए हैं। श्रीलंका में 1956 में आधिकारिक भाषा के तौर पर में सिंहली लागू किए जाने के बाद तमिल भाषी हाशिये पर चले गए, जिसका नतीजा सरकार और लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (लिट्टे) के बीच दशकों तक चले गृहयुद्ध के रूप में सामने आया। बेल्जियम में, डच-भाषी फ़्लेंडर्स और फ़्रेंच-भाषी वालोनिया के बीच भाषाई तनाव ही कारण था कि वहां अलगाव के लिए बार-बार संघर्ष हुए और राजनीतिक गतिरोध पैदा हुआ। कनाडा के क्यूबेक अलगाववादी आंदोलन के मूल में भी एक अंग्रेजी-प्रधान राष्ट्र में फ्रेंच भाषा थोपने के प्रयास ही रहे हैं। स्पेन में, कैटेलोनिया की आजादी का आंदोलन भी कैटलन भाषा को कथित स्पेनिश थोपे जाने से बचाने की इच्छा में निहित है।

इसी तरह, यूक्रेन के पूर्वी क्षेत्रों में सरकार और रूस समर्थित अलगाववादियों के बीच संघर्ष में भाषा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वहां रूसी के बजाय यूक्रेनी भाषा को बढ़ावा देने के यूक्रेन सरकार के प्रयासों को प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, जिसकी परिणति भू-राजनीतिक तनाव और व्यापक सशस्त्र संघर्ष में हुई और जिसमें हज़ारों लोगों की जानें जा चुकी हैं।

भाषाई संघर्ष अनेक राष्ट्रों के विखंडन का कारण भी बने हैं। 1990 के दशक में यूगोस्लाविया का विघटन सर्ब, क्रोट्स, बोस्नियाक्स और अन्य समूहों के बीच जातीय और भाषाई विभाजन के कारण ही हुआ था। एकीकृत भाषाई और सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने में नाकामी का नतीजा आखिर हिंसक युद्धों और कई राज्यों की आजादी के रूप में देश के विखंडन के तौर पर सामने आया।

पाकिस्तान में भी ऐसे ही हालात पैदा हुए, जब भाषाई तनाव ने 1971 में पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) के अलग होने में अहम भूमिका निभाई। उर्दू को राष्ट्रीय भाषा के तौर पर लागू करने के पाकिस्तान सरकार के प्रयासों ने बंगलाभाषी लोगों को अलग-थलग कर दिया, जिससे राष्ट्रवादी भावनाएं भड़कीं और नतीजा अंततः एक भयावह युद्ध के रूप में सामने आया, जिसकी परिणति आजाद बांग्लादेश के रूप में हुई। यह एक स्पष्ट चेतावनी है कि भाषाई दमन किसी देश के पूर्ण विघटन का कारण भी बन सकता है।

भाजपा सरकार को इन वैश्विक उदाहरणों से सबक सीखना चाहिए। एक वैविध्यपूर्ण राष्ट्र में भाषाई एकरूपता लागू करने का कोई भी प्रयास विभाजनकारी और राष्ट्रीय एकता की स्थिरता के लिए जोखिम भरा हो सकता है। जब अंग्रेजी ऐतिहासिक रूप से एक तटस्थ संपर्क भाषा के रूप में काम करती रही है, हिन्दी पर बढ़ता जोर इसकी उस भूमिका को चुनौती देने वाला है। भाषा विवादों को राष्ट्रीय संकट में तब्दील होने से रोकने के लिए, भाजपा सरकार को समावेशी और संतुलित भाषा नीति अपनानी होगी।

हमें भाषा को लेकर होने वाले तमाम वैश्विक संघर्षों से सबक लेने की जरूरत है। भारत ऐसी गलतियां दोहराने का जोखिम नहीं उठा सकता। एक समान भाषाई पहचान का विचार ही इसकी समृद्ध और विविध भाषाई विरासत के साथ मौलिक रूप से मेल नहीं खाता है। हिन्दी थोपने के प्रयासों में दरारों के गहराने, आबादी के बड़े हिस्से को अलग-थलग करने और राष्ट्रीय एकता कमजोर पड़ने का जोखिम है।

इस चुनौती से निपटने के लिए, भाजपा सरकार को भारत का संघीय चरित्र दर्शाने वाली, समावेशी-लचीली भाषा नीतियां अपनाने की जरूरत है। इसके लिए कई आधिकारिक भाषाओं को मान्यता देना, क्षेत्रीय संदर्भों के अनुरूप द्विभाषी या बहुभाषी शिक्षा सुनिश्चित करना और शैक्षिक रूपरेखा निर्धारित करने के राज्यों के अधिकारों का सम्मान करना कुछ जरूरी कदम हैं। तमिलनाडु का मॉडल ऊपर से थोपी गई भाषा-नीति के बरक्स एक व्यावहारिक और कामयाब विकल्प है।

स्टालिन और पीटीआर ने ठीक ही आगाह किया है कि यह महज तमिलनाडु का मामला नहीं है- यह भारत की एकता, लोकतंत्र और आर्थिक निष्पक्षता के लिए गहरे निहितार्थ वाला एक राष्ट्रीय मुद्दा है। भाषा का इस्तेमाल अगर राजनीतिक वर्चस्व के साधन के रूप में किया जाता रहा, तो यह राष्ट्रीय विभाजन का सबसे बड़ा कारण बनकर सामने आ सकता है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन के उप्साला विश्वविद्यालय में शांति और संघर्ष अनुसंधान के प्रोफेसर हैं।

मूल पर आघात केन्द्र सरकार हिन्दी को चाहे जितना प्रमुख भाषा के तौर पर थोपने की कोशिश करे, इलाकाई तकरार से दूर, भाषा नीति पर संघर्ष भारत के संघीय ढांचे, लोकतांत्रिक मूल्यों और समावेशी विकास के मूल पर आघात करने वाला ही कहा जाएगा। धर्मपुरी में द्रमुक की युवा शाखा ने प्रदर्शन कर केन्द्र के भाषा थोपने के प्रयासों का पुरजोर विरोध किया।

> तमिलनाडु का तर्क है कि तीसरी भाषा लागू करने से ग्रामीण और हाशिये के समाज से आने वाले छात्रों पर असंगत रूप से बोझ पड़ेगा जो पहले से ही बुनियादी शिक्षा तक अपनी पहुंच बनाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं

भारतीय कृषि को करना होगा अमेरिकी टैरिफ का मुकाबला

आयात शुल्क कम करने से बाजार में अमेरिकी कृषि उत्पादों की बाढ़ आ जाएगी और भारतीय किसानों की उपज की खरीद कम हो जाएगी। किसानों को इसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी

हरजिंदर

हिमाचल की राजधानी शिमला से 100 किलोमीटर दूर रोहड़ू के सेब बागानों में फूल खिलने लगे हैं, लेकिन बागान मालिकों के चेहरे मुरझाए हैं। उनका ध्यान फूल खिलने नहीं, टैरिफ को लेकर चल रही भारत-अमेरिका की बातचीत पर है। खबर कि भारत जवाबी टैरिफ की परेशानियों के बचने के लिए अमेरिकी उत्पादों पर लगने वाला आयात शुल्क कम करने को तैयार हो रहा है, जो यहां के किसानों और बागवानों की नींद हराम किए हुए है।

टैरिफ को लेकर उनके अनुभव अच्छे नहीं हैं। 2023 में सरकार ने सेब पर लगने वाला आयात शुल्क 70 से घटाकर 50 प्रतिशत कर दिया था। नतीजतन वाशिंग्टन एप्पल का आयात बीस गुना बढ़ गया। दूसरी तरफ गैर-प्रीमियम सेब के बाजार के बड़े हिस्से पर ईरान और तुर्की के सेब का कब्जा हो गया। प्रोग्रेसिव ग्रोवर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष लोकिंदर सिंह बिष्ट कहते हैं कि प्रीमियम सेब के मामले में हम वाशिंग्टन एप्पल से मुकाबला नहीं कर पाएंगे। वहां फैक्ट्री स्तर पर खेती है। उनके उत्पाद एक जैसी गुणवत्ता के होते हैं। सेब बागवानी की लागत कुछ साल में तेजी से बढ़ी है। आयात शुल्क कम होता है, तो यह काम गुजारे लायक भी नहीं रहेगा।

टैरिफ को लेकर अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप की जिद जारी रहती है, तो दो अप्रैल के बाद सेब समेत भारत के बहुत से बाजार डिस्रप्ट हो सकते हैं। अगर अमेरिका रेसीप्रोकल टैरिफ की नीति को अपनाते हुए भारतीय उत्पादों पर ज्यादा शुल्क लगाता है तो निर्यात में भारी कमी आ सकती है। दूसरी तरफ अगर भारत अमेरिका से आयात पर टैरिफ कम कर देता है, तो भारतीय बाजार में बहुत से अमेरिकी उत्पादों की बाढ़ आ सकती है।

ज्यादा समस्या कृषि उत्पादों को लेकर आ सकती है। भारत से अमेरिका को होने वाला कुल निर्यात 120 अरब डॉलर से ज्यादा है। इसके सबसे बड़े मद हीरे-जवाहारात, बल्क ड्रग्स, इंजीनियरिंग उत्पाद, टैक्सटाइल और रेडीमेड कपड़े हैं। पूरे निर्यात में कृषि उत्पादों की हिस्सेदारी 48 अरब डॉलर है। जबकि भारत में अमेरिका से होने वाला कृषि उत्पादों का आयात दो अरब डॉलर से भी कम ही है। वह भी तब जब पिछले कुछ समय में भारत ने सेब, क्रॉयनबेरी, ब्लूबेरी, टर्की जैसे बहुत से कृषि उत्पादों पर टैरिफ की दर काफी कम कर दी है। दो अप्रैल से कृषि उत्पादों के आयात और निर्यात का यह समीकरण काफी बदल सकता है।

भारत कृषि उत्पादों पर टैरिफ कम करे, इसके लिए अमेरिका की निर्यात लॉबी दबाव बनाती रही है। कुछ ही समय पहले अमेरिकी कृषि उत्पादकों के कई संगठनों ने यूएस ट्रेड रिप्रजेंटेटिव को लिखा था कि भारत पर टैरिफ में भारी कटौती करने का दबाव बनाया जाए। ट्रंप के राष्ट्रपति बनने के बाद यह लॉबी और भी सक्रिय हो गई है।

ट्रंप लगातार कह रहे हैं कि भारत अमेरिकी सामानों पर 100 प्रतिशत तक टैरिफ लगाता है। हालांकि ऐसा सिर्फ गिने-चुने उत्पादों पर ही है। कृषि उत्पादों पर भारत औसतन 39 प्रतिशत आयात शुल्क लगा रहा है जो अलग-अलग उत्पादों पर भिन्न-भिन्न है। जैसे सेब पर 50 और डेयरी उत्पादों पर 60 प्रतिशत।

भारत में भी निर्यात करने वाले संगठन सक्रिय हो गए हैं। वे ऐसा रास्ता निकालने पर जो दे रहे हैं जिससे उनके कारोबार पर असर न पड़े। फरवरी के चौथे हफ्ते में वाणिज्य मंत्री पियूष गोयल इनवेस्ट केरला ग्लोबल समिट में भाग लेने कोच्चि गए तो वहां झींगा निर्यातकों ने उनसे मुलाकात करके आग्रह किया कि झींगा आयात पर लगने वाला 30 प्रतिशत आयात शुल्क भारत खत्म कर दे। भारत से निर्यात होने वाले झींगा पर अमेरिका 5.77 प्रतिशत काउंटरवेलिंग ड्यूटी लगाता है।

भारत से 2023-24 में कुल 7,16,004 मीट्रिक टन झींगा का निर्यात हुआ था। इनमें सबसे बड़ा ग्राहक अमेरिका था जहां 2,97,571 मीट्रिक टन झींगा भेजा गया। अमेरिकी बाजार में भारत के ब्लैक टाईगर श्रिंप की काफी मांग है जो लगातार बढ़ रही है। दूसरी तरफ अमेरिका से या दुनिया के किसी भी और बाजार से भारत में श्रिंप का आयात लगभग न के बराबर ही होता है।

यही हाल भारत से निर्यात होने वाले कई दूसरे कृषि उत्पादों का भी है। काजू, मसाले, आम, चाय जैसे ये ज्यादातर उत्पाद कीमत के मामले में अन्य देशों के स्पर्धा करते हैं। उन्हें अमेरिका में अच्छा बाजार इसी वजह से मिल पाता है क्योंकि अमेरिकी उपभोक्ताओं को वे काफी सस्ते पड़ते हैं। वे ऐसे कृषि उत्पाद नहीं हैं जिनके लिए अंतरराष्ट्रीय बाजार में दूसरे विकल्प मौजूद नहीं हैं।

जहां अमेरिका के पास ज्यादा विकल्प नहीं हैं, वहां भी टैरिफ का मामला समस्या खड़ी कर सकता है। चावल के निर्यात को ही लें। भारत दुनिया का सबसे बड़ा चावल निर्यातक है। बासमती या दूसरे एरोमेटिक चावल के मामले में अमेरिकी बाजार के पास ज्यादा विकल्प नहीं हैं। इसके बावजूद भारत ने चावल पर 70 प्रति आयात शुल्क का प्रावधान रखा है। अगर अमेरिका भी इतना ही टैरिफ लगा देता है, तो दाम बढ़ जाने से उसकी मांग में कमी आएगी ही।

दूसरी तरफ भारत रेसीप्रोकल टैरिफ से बचने के लिए आयात शुल्क को कम करता है, तो बड़ी समस्याएं खड़ी हो सकती हैं। मसलन अखरोट। अभी भी अमेरिका से अखरोट का बड़े पैमाने पर आयात होता है। अगर इस पर आयात शुल्क में भारी कटौती की जाती है, तो आयातित सस्ते अखरोट समस्या खड़ी कर देंगे।

सबसे बड़ा खतरा यही है कि अमेरिका के बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होने वाले सस्ते कृषि उत्पाद कई भारतीय बाजारों को ध्वस्त कर सकते हैं। भारत में ज्यादातर कृषि छोटी जोत में होती है, यहां कृषि को अमेरिका की तरह इकॉनमी ऑफ स्केल का कोई फायदा नहीं मिलता। सस्ते होने के कारण अगर भारतीय बाजारों में अमेरिकी कृषि उत्पादों की बाढ़ आती है, तो यह हमारी उस कृषि व्यवस्था के लिए नई मुसीबत होगी।

आयात शुल्क कम करने से बाजार में अमेरिकी कृषि उत्पादों की बाढ़ आ जाएगी। ऐसे में भारतीय किसानों की उपज की खरीद कम हो जाएगी। किसानों पर इसकी जो मार पड़ेगी, वह बहुत बड़ी होगी क्योंकि उन्हें इसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।

एक दबाव कपास के आयात शुल्क को कम करने पर भी है। भारत दुनिया का सबसे बड़ा कपास उत्पादक और निर्यातक देश है। आयात शुल्क कम होता है, तो अमेरिकी कपास भारतीय बाजार को डिसरप्ट कर सकता है। भारतीय कपास उत्पादकों पर दबाव को इसी से समझा जा सकता है कि कुछ सालों में पंजाब, गुजरात और महाराष्ट्र किसानों की आत्महत्याओं की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं हुई हैं उनमें सबसे ज्यादा कपास की खेती करने वाले ही थे।

भारत और अमेरिका में कृषि उत्पादों की कीमतों में अंतर का एक कारण अमेरिकी किसानों को बड़ी मात्रा में दी जाने वाली सब्सिडी भी है। रूरल वॉयस के हरवीर सिंह ने यूएस गवर्नमेंट एकाउंटिबिलिटी ऑफिस के आंकड़ों के आधार पर यह गणना की है कि एक औसत अमेरिकी किसान को हर साल औसतन 30,782 डॉलर यानी लगभग 26.78 लाख रुपये की सब्सिडी मिलती है, जबकि भारत में किसान सम्मान निधि के नाम पर महज छह हजार रुपये साल के ही मिलते हैं।

मनमोहन सरकार में वाणिज्य मंत्री रहे कमलनाथ ने कहा था, 'अमेरिकी किसानों से स्पर्धा में हमें कोई दिक्कत नहीं है लेकिन अमेरिकी सरकार की वित्तीय ताकत से हम स्पर्धा नहीं कर सकते'।

ट्रंप सब्सिडी के बारे में चुप हैं। अगर आयात शुल्क कम करके भारतीय बाजार को अमेरिकी कृषि उत्पादों के लिए खोला जाता है, तो अमेरिका की इस सब्सिडी का भुगतान भारतीय उपभोक्ताओं और किसानों की जेब से ही होगा। अभी तक भारत और अमेरिका का व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में झुका है। भारत निर्यात ज्यादा करता है, आयात कम। दो अप्रैल के बाद यह समीकरण भी बदल सकता है। ■

बढ़ता खतरा भारत के किसानों की चिंता अनायास नहीं है। अगर अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप की टैरिफ को लेकर जिद पूरी होती है, तो यह सेब समेत बहुत से बाजार को ध्वस्त कर सकता है और अमेरिकी उत्पादों की बाढ़ का खतरा बढ़ जाएगा।

> भारत दुनिया का सबसे बड़ा कपास उत्पादक और निर्यातक देश है। आयात शुल्क कम होता है, तो अमेरिकी कपास भारतीय बाजार को बाधित कर सकता है। दबाव को इसी से समझा जा सकता है कि आत्महत्या करने वालों में बहुतायत कपास उत्पादक किसान ही रहे हैं

खौफ पैदा कर रहा शहर का नया शेरिफ ग्रोक

इसने लॉन्च के महज एक हफ्ते के भीतर झूटे नैरेटिव का बाजार गर्म रखने वालों के पैरों तले जमीन खिसका दी

अभय शुक्ला

शहर में नया शेरिफ आया है... अमेरिका के उप राष्ट्रपति टीडी वेंस ने यूरोप की अपनी पहली यात्रा पर अपने खास अंदाज में यह ऐलान किया था। संभवतः, उनका आशय ट्रंप से था, न कि 'संघीय मार्शल' मस्क से जो बची-खुची विश्व व्यवस्था पर ताबड़तोड़ हमले कर रहे हैं। लेकिन यह लेख अमेरिकी शेरिफ के बारे में नहीं है- यह भारत में अभी-अभी आए नए शेरिफ के बारे में है।

इसका नाम ग्रोक है। ठीक-ठीक कहें तो ग्रोक 3, जिसे एलन मस्क ने हाल ही में जारी किया है और यह भारत के ताकतवर लोगों में ऐसा खौफ पैदा कर रहा है जैसा वायट इयरप और डॉक हॉलिडे ने 'वाइल्ड वेस्ट' में भी नहीं किया था। ग्रोक 3 के लॉन्च होने के एक सप्ताह के भीतर ही इसने 'चूहों' को बिल में जा छिपने के लिए मजबूर कर दिया है,अमित मालवीय को 'मौन व्रत' धारण करने के लिए बाध्य कर दिया है जो इस बात पर सिर खपा रहे हैं कि अपने झूठ को 'ग्रोक-प्रूफ' कैसे बनाएं। यह समझना मुश्किल नहीं है कि आखिर ऐसा हो क्यों रहा है।

किसी भी तानाशाही सत्ता के लिए जनता को काबू में रखने का मुख्य साधन पुलिस नहीं बल्कि गलत सूचना है- फर्जी खबरें, सूचना और आधिकारिक आंकड़ों को छिपाना, प्रचार-प्रसार के लिए मीडिया पर कब्जा करना, झूठे नैरेटिव गढ़ना, इतिहास को विकृत करना। भारत में सत्तारूढ़ पार्टी के लिए यह सब बिल्कुल मुफीद साबित होते रहे हैं क्योंकि अब प्रामाणिक समाचारों के बहुत कम चैनल बचे हैं, और सरकार के आधिकारिक डेटा (बेरोजगारी, घरेलू खपत, जनगणना, वनों की कटाई, असमानता, गरीबी, चुनाव संबंधी डेटा) को या तो दबा दिया जाता है, उसे तोड़-मरोड़ दिया जाता है या फिर उसे सिरे से नकार दिया जाता है। मतदाता के पास सरकारी एजेंसियों द्वारा गढ़ी गई बातों पर भरोसा करने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता।

ये सब अब नहीं चलने वाला क्योंकि शहर में नया शेरिफ खेल के नियमों को बदल रहा है। हालांकि ट्रंप की तुलना में यह कहीं अधिक लोकतांत्रिक और न्यायसंगत तरीका है। कुछ ही दिनों में सवालों के जवाब देते हुए ग्रोक ने उन तमाम नैरेटिव की ऐसी की तैसी करके रख दी है जो पिछले 10 सालों से हमारे जेहन में बैठाए जा रहे थे।

उदाहरण के लिए, इसने हमें बताया है कि इस बात का कोई सबूत नहीं है कि श्री मोदी (या श्रीमती ईरानी) के पास कोई डिग्री है, कि हमारी आजादी की लड़ाई में आरएसएस ने नहीं बल्कि मुसलमानों ने भाग लिया था, कि श्रीमती सोनिया गांधी कभी बार डांसर नहीं रहीं, कि अर्नब गोस्वामी और सुधीर चौधरी गोदी मीडिया के शीर्ष चाटुकार एंकर हैं, कि मोदी की एक प्रेस कॉन्फ्रेंस की तुलना में राहुल गांधी ने 43 प्रेस कॉन्फ्रेंस कीं, कि नेहरू ने 1946 में अपनी व्यक्तिगत संपत्ति में से 196 करोड़ रुपये (वर्तमान मूल्य में 49,000 करोड़ रुपये) देश को दान कर दिया था, कि जब योगी आदित्यनाथ 2017 में यूपी के मुख्यमंत्री बने तो उनके खिलाफ 28 आपराधिक मामले दर्ज थे जिनमें से सभी उन्होंने वापस ले लिए। देश का बिका हुआ मीडिया कभी भी इन बातों को हमारे साथ साझा नहीं करेगा।

हैरानी नहीं कि 'चूहे' अपने बिलों में दुबक रहे हैं। क्योंकि ग्रोक की विश्वसनीयता पर सवाल नहीं उठाया जा सकताः इसके जवाब कई स्रोतों के निचोड़ होते हैं- चाहे अभिलेख वामपंथी हों या फिर दक्षिणपंथी। इसकी विश्वसनीयता इसलिए भी संदेह के परे है क्योंकि ग्रोक की कोई विचारधारा नहीं है, इसके एल्गोरिदम का कोई राजनीतिक झुकाव नहीं है और यह अनुमानों या नैरेटिव पर नहीं बल्कि ठोस डेटा पर निर्भर करता है। सत्तारूढ़ पार्टी और उसके दक्षिणपंथी अनुयायी इस पर पक्षपात का आरोप भी नहीं लगा सकते, क्योंकि यह तो हमारे प्रधानमंत्री के दोस्त के दोस्त की पेशकश है।

फोटोः गेटी इमेजेज

खौफ अमेरिका के उप राष्ट्रपति टीडी वेंस ने चाहे जिस नए शेरिफ का जिक्र किया हो, भारत में अभी-अभी आए नए शेरिफ ग्रोक ने ताकतवर लोगों में भयानक खौफ जरूर पैदा कर दिया है जिससे पार पाना उनके लिए आसान नहीं रह गया है।

जैसे-जैसे ग्रोक तक पहुंच बढ़ती जा रही है और जैसे-जैसे सोशल मीडिया और यू-ट्यूबर्स के सामने संभावनाओं का आकाश खुलता जा रहा है, प्रामाणिक सूचना मिलने, अब तक छिपाकर रखी जानकारी के बाहर आने और इसके साथ ही हाल के सालों में आम लोगों के दिलो-दिमाग पर जो गलत सूचनाओं का कंबल डाल दिया गया, उसके भी हट जाने की उम्मीद की जा सकती है। यह अधिक खुला समाज, बेहतर जागरूक नागरिक और अधिक उत्तरदायी सरकार बनाने में योगदान करने वाला है। मैं कबूल करता हूं कि इसको लेकर मैं आम लोगों से कहीं ज्यादा उत्साहित हूं (इन दिनों मुझे आम तौर पर कुछ भी उत्साहित नहीं करता) क्योंकि मैं इस जादुई एआई टूल की असीम क्षमता का अंदाजा लगा सकता हूं।

उदाहरण के लिए, आरटीआई तंत्र को ही लें जिसे सरकार ने लगभग पूरी तरह से तबाह कर दिया है। ग्रोक में कुछ हद तक हमारे आरटीआई आयोगों की जगह लेने की काबिलियत है क्योंकि यह किसी भी विषय/सवाल पर लाखों अलग-अलग स्रोतों से नैनो सेकंड में जानकारी खोजकर निकाल सकता है, जो आपका पीआईओ नहीं निकाल सकता या निकालना नहीं चाहता।

> ग्रोक की विश्वसनीयता संदेह के परे है क्योंकि इसके एल्गोरिदम का कोई राजनीतिक झुकाव नहीं और यह अनुमानों या नैरेटिव पर नहीं बल्कि ठोस डेटा पर निर्भर करता है। सत्तारूढ़ पार्टी और उसके अनुयायी इस पर पक्षपात का आरोप भी नहीं लगा सकते, क्योंकि यह तो हमारे प्रधानमंत्री के दोस्त के दोस्त की पेशकश है

इससे भी बड़ी बात, क्या हम इसकी उम्मीद नहीं कर सकते कि किसी दिन ग्रोक हमारी अदालतों की जगह ले लेगा, जिनके पास 5 करोड़ लंबित मामले हैं और जिनके फैसले बड़ी तेजी से बहुसंख्यक विचारधारा के अनुकूल होते जा रहे हैं और जहां सुनवाई शुरू होने की तो बात ही छोड़िए, अभियुक्त को महज जमानत पाने के लिए जजों की इनायत का बरसों इंतजार करना पड़ता है।

क्या आप ऐसी न्यायिक व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं जहां कोई वकील, कोई जज या कोई लंबित मामला न हो? बस, किसी मामले (सिविल या आपराधिक) के तथ्यों, साक्ष्य, दलीलों, पिछले केस कानून को ग्रोक के एल्गोरिदम में डाल दें और आपको मिनटों में फैसला मिल जाए! वह भी कानून और योग्यता के आधार पर, जो आजकल दुर्लभ होता जा रहा है। मैं डॉनल्ड ट्रंप या श्री मोदी या न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ के बारे में नहीं जानता, लेकिन सोलोमन शर्तिया इसे मंजूर करते। और हां, उमर खालिद भी! ■

अभय शुक्ला सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी हैं।
यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है।

विवाह नहीं हो सकता बलात्कार का समाधान

अदालतें जिस तरह बलात्कार के मामले में पीड़िता के साथ विवाह करने का विकल्प देकर 'इंसाफ' कर रही हैं, उससे गलत संदेश जा रहा

नबील कोलोथुमथोडी

20 फरवरी 2025 को इलाहाबाद हाईकोर्ट ने एक बेहद परेशान करने वाला बहुचर्चित फैसला सुनाया। न्यायमूर्ति कृष्ण पहल की अध्यक्षता वाली पीठ ने 26 वर्षीय बलात्कार आरोपी नरेश मीना को इस शर्त पर जमानत दे दी कि वह जेल से रिहा होने के तीन महीने के भीतर पीड़िता से शादी कर ले।

यह पहली बार नहीं है जब इस अदालत और इस पीठ ने ऐसा आदेश दिया हो। अक्तूबर 2023 में भी अदालत ने एक ऐसे व्यक्ति को पीड़िता के साथ शादी करने की शर्त पर जमानत दी थी जिसने 15 साल की लड़की के साथ बलात्कार कर उसे गर्भवती कर दिया था। उसे रिहाई के छह महीने के भीतर अपने बच्चे के नाम पर 2 लाख रुपये का फिक्स डिपॉजिट कराने का भी आदेश दिया गया था। यह एक खतरनाक प्रवृत्ति है जिसे अपराधियों द्वारा 'बलात्कार करने और आसानी से बच निकलने के लाइसेंस' के रूप में देखा जा सकता है।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) ने 2022 में बलात्कार के 31,982 मामले दर्ज किए। हालांकि, बलात्कारियों की सजा की दर 2018 और 2022 के बीच लगभग 27-28 फीसद थी और हत्या समेत पांच गंभीर अपराधों के मामले में यह दर दूसरे सबसे कम है। कानून को लागू करने में असंगति और खस्ता पुलिस व्यवस्था ऐसे कारक हैं जो दोषसिद्धि में बाधक होते हैं। रॉयटर्स की रिपोर्ट के मुताबिक, वरिष्ठ आपराधिक वकील रेबेका एम. जॉन कहती हैं कि बलात्कारी लगातार इस तरह के अपराध को अंजाम दे रहे हैं क्योंकि उनमें 'कानून का खौफ नहीं रह गया है।' रेबेका का मानना है कि एक जज का सजा देने से कतराने की एक वजह सख्त सजा भी हो सकती है- ऐसे मामले में न्यूनतम सजा 10 साल की कैद से लेकर मृत्युदंड तक हो सकती है। एक तो पहले से ही बलात्कारी सजा से बच निकलते थे, उस पर अदालतों द्वारा पीड़िता को बलात्कारी से शादी करने के लिए मजबूर करने के मामलों की वजह से भी इस तरह के मामलों में चिंताजनक वृद्धि हुई है।

कड़वे फैसले

2021 में तत्कालीन भारत के मुख्य न्यायाधीश शरद बोबडे ने नाबालिग से बार-बार बलात्कार और मारपीट के आरोपी सरकारी कर्मचारी मोहित सुभाष चव्हाण से कहा कि वह लड़की से शादी करके सजा से बच सकता है- 'अगर तुम (उससे) शादी करना चाहते हो, तो हम तुम्हारी मदद कर सकते हैं। अगर नहीं, तो तुम नौकरी खो दोगे और जेल जाओगे।' जबकि चव्हाण को 'क्रूर' बताते हुए बॉम्बे हाईकोर्ट ने उसकी जमानत याचिका खारिज कर दी थी। मुख्य न्यायाधीश की टिप्पणी पर देश-दुनिया ने नाराजगी जताई थी।

कसौटी पीड़िता को उसके बलात्कारी से शादी करने का सुझाव देना, पीड़िता को 'जीवन भर बलात्कार' की सजा देना है। इस तरह के फैसले पीड़िता से न्याय पाने का उसका संवैधानिक अधिकार ही छीन लेते हैं।

2020 में इलाहाबाद हाईकोर्ट की न्यायमूर्ति मंजू रानी चौहान ने तब बलात्कार के मामले को खारिज कर दिया था, जब उन्हें पता चला कि आरोपी और पीड़िता ने शादी करके मामले को 'सुलझा' लिया है। उसी साल मध्य प्रदेश हाईकोर्ट की इंदौर खंडपीठ के न्यायमूर्ति रोहित आर्य ने बलात्कार के एक आरोपी को इस शर्त पर जमानत दे दी थी कि वह रक्षाबंधन पर पीड़िता के घर जाकर उससे राखी बंधवाएगा। बाद में इस विचित्र फैसले को सुप्रीम कोर्ट ने खारिज कर दिया था।

2019 में केरल हाईकोर्ट ने व्यवस्था दी कि आरोपी के खिलाफ बलात्कार का मामला तभी रद्द किया जा सकता है जब वह पीड़िता से शादी कर ले। 2024 में कर्नाटक हाईकोर्ट ने 23 साल के युवक को 18 साल की लड़की से शादी करने के लिए जमानत दे दी ताकि उसके बच्चे को 'अपमान' से बचाया जा सके। लड़की का 16 साल की उम्र में यौन शोषण हुआ था।

बलात्कार कोई अनुबंध नहीं

बलात्कार पीड़ितों पर अकल्पनीय आघात होता है और उन्हें अपने हमलावर के साथ विवाह करने के लिए मजबूर करना उनकी पीड़ा को और बढ़ा देता है। (एनी राजा, मरियम धवले, कविता कृष्णन, कमला भसीन, मीरा संघमित्रा, अरुंधति धुरु समेत) 4,000 महिला अधिकार कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील समूहों और (अरुणा रॉय, लक्ष्मी मूर्ति, अपूर्वानंद, फराह नकवी, आयशा किदवई समेत) चिंतित नागरिकों ने सीजेआई बोबडे को इस मामले में एक खुला पत्र लिखा था जिसमें कहा गया कि 'नाबालिग लड़की के बलात्कार के मामले को निपटाने के लिए सौहार्दपूर्ण समाधान के रूप में विवाह का प्रस्ताव निहायत असंवेदनशील से भी बदतर है क्योंकि यह पीड़ितों के न्याय मांगने के अधिकार को ही खत्म कर देता है।'

खुले पत्र में कहा गयाः 'आपके शब्द अन्य न्यायालयों, न्यायाधीशों, पुलिस और अन्य सभी कानून प्रवर्तन एजेंसियों को संदेश देते हैं कि भारत में इंसाफ पाना महिलाओं का संवैधानिक अधिकार नहीं है। इसका नतीजा यह होगा कि लड़कियों/महिलाओं को जुबान बंद रखने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। दशकों बाद यह स्थिति आ सकी थी कि ऐसे मामलों को वे सामने लाने लगी थीं। इसके अलावा बलात्कारियों को यह संदेश जाता है कि विवाह बलात्कार का लाइसेंस है; और ऐसा लाइसेंस प्राप्त करके, बलात्कारी अपने कृत्य को बाद में अपराध से मुक्त और वैध बना सकता है।'

उन्होंने कहा कि पीड़िता को उसके बलात्कारी से शादी करने का सुझाव देना, पीड़िता को 'जीवन भर बलात्कार' की सजा देना है। (भारत उन 30 देशों में है जो वैवाहिक बलात्कार को अपराध नहीं मानते हैं।) बलात्कार पीड़िताएं गंभीर मानसिक समस्याओं से जूझती हैं। कई आत्महत्या का प्रयास करती हैं। बलात्कारियों से शादी करने के न्यायिक आदेश उन्हें उनके संवैधानिक अधिकारों से वंचित करते हैं। शर्मिंदा, बहिष्कृत और ऐसे समझौतों से बाहर निकलने का कोई रास्ता न होने के कारण उन्हें आघात भरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। बलात्कारियों को उनके अपराध के लिए दोषी ठहराने और बलात्कार पीड़ितों को पर्याप्त कानूनी और मनोवैज्ञानिक सहायता का आश्वासन देने के बजाय, 'अपने बलात्कारी से शादी कर लो' यह संदेश देता है कि न्याय के अधिकार के बजाय महिला का 'सम्मान' दांव पर है। पुणे में 2021 का मामला है- एक नाबालिग लड़की ने अपने बलात्कारी रोहित राजू पवार से शादी करने के लिए मजबूर किए जाने के बाद खुदकुशी कर ली। इस तरह की प्रथा के कैसे विनाशकारी नतीजे हो सकते हैं, यह मामला उसका दिल दहला देने वाला उदाहरण है।

सुप्रीम कोर्ट का आदेश

कोर्ट ने माना है कि बलात्कार पीड़िता और अपराधी के बीच कोई भी समझौता 'निहायत गलती' होगी। बलात्कारियों द्वारा किए गए विवाह प्रस्तावों से अदालतों को 'बिल्कुल दूर रहने' का आग्रह करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट कहा कि 'बलात्कार या बलात्कार के प्रयास के मामले में किसी भी स्थिति में समझौते के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता।'

अदालत वह जगह है जहां हम इंसाफ की अपेक्षा करते हैं, जहां दोषियों को दंडित किए जाने और निर्दोषों की रक्षा की उम्मीद होती है। लेकिन जब वहीं पर यह भरोसा टूट जाए तो पीड़ितों के साथ-साथ पूरी आपराधिक न्याय व्यवस्था को झटका लगता है। भारत में स्थिति यही है कि अदालतों ने बार-बार बलात्कार को एक 'समझौता योग्य अपराध' में बदलने का प्रयास किया है। ये फैसले अपराधियों को प्रोत्साहित करते हैं, संदेश देते हैं कि उनके अपराधों को जबरन विवाह के जरिये 'खत्म' किया ज़ा सकता है।

व्यवस्थागत बदलाव, न्यायिक सुधार, विधायी स्पष्टता, लैंगिक संवेदनशीलता और जागरूकता अभियानों के बिना, कानूनी व्यवस्था बलात्कार पीड़ितों को निराश करती रहेगी। राजस्थान की सामाजिक कार्यकर्ता और बलात्कार पीड़िता भंवरी देवी का मामला इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसी मामले में कानूनी लड़ाई ने महिलाओं के लिए यौन उत्पीड़न संरक्षण कानूनों को जन्म दिया, जो 1997 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्थापित कार्यस्थलों के लिए ऐतिहासिक विशाखा दिशा-निर्देशों की रीढ़ बने। हालांकि, इस मामले में भी किसी को सजी नहीं हुई। ■

> अदालतों द्वारा पीड़िता को बलात्कारी से शादी करने के लिए मजबूर करना एक खतरनाक प्रवृत्ति है जिसे अपराधियों द्वारा 'बलात्कार करने और आसानी से बच निकलने के लाइसेंस' के रूप में देखा जा सकता है

नबील कोलोथुमथोडी एक लोकसभा सांसद के संसदीय सचिव और दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि संकाय के पूर्व छात्र हैं। ये उनके निजी विचार हैं।

ज्ञानपीठ की दीवार में खुली खिड़की

विनोद कुमार शुक्ल को यह पुरस्कार देकर ज्ञानपीठ ने अपने दामन पर लगा दाग किसी हद तक धोने की कोशिश की है। पहले मिला होता तो अच्छा होता

प्रियदर्शन

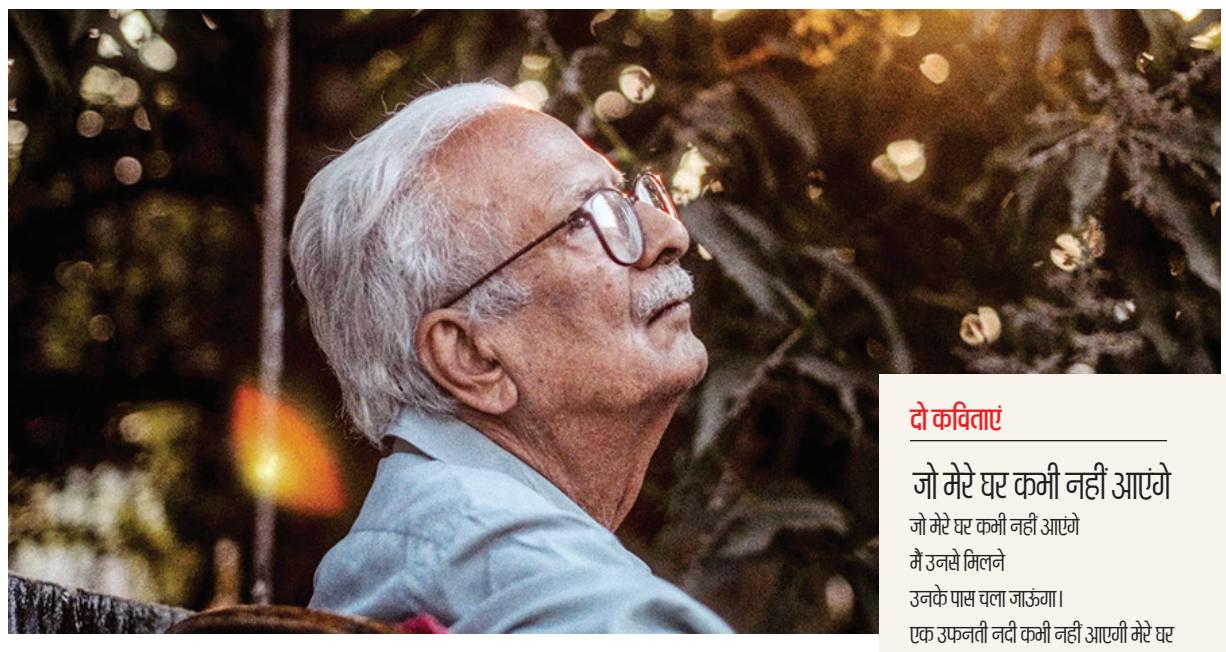

विनोद कुमार शुक्ल को ज्ञानपीठ मिलने के बाद हिन्दी के सार्वजनिक संसार में जो उत्साह का माहौल है, वह बताता है कि हमारे समय के इस बड़े कवि को उनका समाज कितना प्यार करता है। इस सम्मान की घोषणा के बाद उन्होंने एक वीडियो संदेश में अफसोस जताया- "मुझे लिखना बहुत था, बहुत कम लिख पाया, मैंने देखा बहुत, सुना भी मैंने बहुत, महसूस भी किया बहुत, लेकिन लिखने में थोड़ा ही लिखा। कितना कुछ लिखना बाकी है, जब सोचता हूं तो लगता है बहुत बाकी है। इस बचे हुए को मैं लिख लेता हूं। अपने बचे होने तक मैं अपने बचे लेखक को शायद लिख नहीं पाऊंगा। तो मैं क्या कहूं, मैं बड़ी दुविधा में रहता हूं। मैं अपनी जिंदगी का पीछा अपने लेखन से करना चाहता हूं। मेरी जिंदगी कम होने के रास्ते पर तेजी से बढ़ रही है और मैं लेखन को उतनी तेजी से बढ़ा नहीं पाता, तो कुछ अफसोस भी होता है।"

यह बताता है कि उनके लिए रचनाशीलता का क्या मोल है। वह प्रशस्तियों और पुरस्कारों में निहित नहीं है, देखे-सुने और महसूस किए हुए को लिखने में निहित है, जिए हुए को शब्दों में पुनर्जीवित करने में निहित है, यह समझने में निहित है कि जिंदगी कम हो रही है और लेखन में उसका पीछा करना मुश्किल हो रहा है।

दरअसल, उनके लेखन को लेकर दो-तीन बातें आसानी से लक्षित की जा सकती हैं। वह अक्सर गद्य और पद्य के बीच की बहुत पतली सी पगडंडी पर चलते रहे हैं, जहां यह नहीं है, वहां अपने उद्यम से बनाते रहे हैं- उन शब्दों की तलाश करते हुए या उन्हें नए अर्थ देते हुए जिनमें मनुष्यता की धीमी और सूक्ष्म आवाजें पूरी मार्मिकता से अभिव्यक्त हों। साल 1971 में अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित 'पहचान' शृंखला के तहत प्रकाशित उनके पहले संग्रह 'लगभग जयहिंद' की भाषा में बेशक उस दौर की काव्यगत प्रवृत्तियों की कुछ छाया मिलती है और लगभग मुखर राजनीतिक वक्तव्य भी, लेकिन धीरे-धीरे विनोद कुमार शुक्ल जैसे एक निजी संवेदन और विचार की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। उनका दूसरा कविता संग्रह 'वह आदमी चला गया नया गरम कोट पहन कर विचार की तरह' संयोग से उनके इस प्रस्थान बिंदु का एक संकेत भी दिखाता है। बाद के वर्षों में शब्दों के अर्थों को अधिकतम खुरचते हुए, संबंधों के भीतर के अनजाने खालीपन को भरते हुए, जो भी अतिरिक्त है, उसको काटते-छांटते, तराशते हुए बिल्कुल वहां तक पहुंचते हैं जहां बस तरल संवेदना है और मनुष्य होने का मर्म है। 'सबकुछ होना बचा रहेगा' और 'अतिरिक्त नहीं' जैसे संग्रहों में इसे पहचाना जा सकता है। उनकी कुछ कविताएं तो उद्धरणों की तरह इस्तेमाल की जाने लगी हैं। मसलन 'अतिरिक्त नहीं' संग्रह की पहली कविता- 'हताशा में एक व्यक्ति बैठ गया था / व्यक्ति को मैं नहीं जानता था / हताशा को जानता था / इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया / मैंने हाथ बढ़ाया / मेरा हाथ पकड़ कर वह उठ खड़ा हुआ / वह मुझे नहीं जानता था / मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था / हम दोनों साथ चले / दोनों एक-दूसरे को नहीं जानते थे / साथ चलने को जानते थे।'

कुछ वाचाल होने का जोखिम उठाते हुए कहने की इच्छा होती है कि यह कविता एक तरफ शिंबोस्र्काई सादगी से जुड़ती है, तो दूसरी तरफ ब्रेख्तीय साझेपन के आह्वान से।

विनोद कुमार शुक्ल की कविता का असली वैभव उनके बाद के संग्रहों 'अतिरिक्त नहीं', या 'कविता से लंबी कविता' में खुलता है। वह जैसे अपनी कविता में काल और कालातीत दोनों को साध रहे हैं, अदृश्य में छुपे दृश्य को पकड़ रहे हैं। अदृश्य के इस संधान को विनोद कुमार शुक्ल अन्यत्र बहुत ठोस ढंग से कह भी डालते हैं, 'कि नहीं होने को / टकटकी बांध कर देखता हूं / आकाश में / चंद्रमा देखने के लिए/ चंद्रमा के नहीं होने को। (कि नहीं होने को)

दरअसल, उनकी इन कविताओं को बार-बार पढ़ने, उनके अर्थ समझने और इन पर लिखने का मोह काफी बड़ा है। लेकिन यह चर्चा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक हम उनके गद्य पर नजर न दौड़ाएं। संभवतः अज्ञेय के बाद विनोद कुमार शुक्ल अकेले हैं जो संपूर्ण कवि भी हैं और संपूर्ण उपन्यासकार भी। हिन्दी में उपन्यास लेखन की यथार्थवादी प्रविधि को 1980 के आसपास आए जिन दो उपन्यासों ने लगभग तोड़फोड़ कर हिन्दी के पाठकों को नया आस्वाद सुलभ कराया, उनमें एक मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु-कुरु स्वाहा' था और दूसरा विनोद कुमार शुक्ल का 'नौकर की कमीज।' मणि कौल ने इस पर फिल्म भी बना डाली। उनके बाद के उपन्यासों 'खिलेगा तो देखेंगे' और 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की भी खूब चर्चा रही है। खास कर 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' हिन्दी के कई पाठकों का प्रिय उपन्यास है। यथार्थ की दीवार के पार जाकर खुलता काव्यात्मक वितान अप्रतिम है।

उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी चीज वह मध्यवर्गीय साधारणता है जो इनका पर्यावरण बनाती है। वह इस साधारणता को आभामंडित नहीं करते, बस जस का तस रख देते हैं- उसकी निरीहता को भी और नृशंसता से उसकी कातर मुठभेड़ों को भी। 'नौकर की कमीज' के संतू बाबू घर-परिवार, समाज और दफ्तर की अनगिन व्यस्तताओं में- अपेक्षाओं, उपेक्षाओं, संघर्ष और उपहास तक में- हाड़मांस का ऐसा जीवित किरदार बन जाते हैं जो जितना हमारे चारों तरफ है, उतना ही हमारे भीतर भी- और उनकी मार्तफ हम उस कुचले जाते और फिर भी बचे रह जाते जीवन को पहचानते हैं जिसे पहचानना भी भूल चुके हैं। पहली बार इसी उपन्यास में लोगों ने कुछ अचरज से एक अलग तरह की भाषा को सांस लेते देखा जो घर को घर बना देती थी और बाहर को बाहर, जो बहुत कम संवादों में निम्नमध्यवर्गीय घरों के दुख-सुख बयान कर जाती थी, जो जितनी वास्तविक है उतनी ही प्रतीकात्मक भी और जितनी गद्यात्मक है उतनी ही काव्यात्मक भी।

'नौकर की कमीज' के करीब दो दशक बाद आए उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में लगता है, संतू बाबू ही गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद बन गए हैं। यह उपन्यास भी मामूलीपन में सांस लेते जीवन के बेहद जीवंत वृत्तांतों से सजा है। इसमें एक बात और है- प्रेम का वह स्वप्न देखने की कोशिश- जो जीवन को अनायास सारे अभावों और संघर्षों के बावजूद बेहद सुंदर बना डालता है। बेशक, कुछ आलोचकों को उपन्यास के बाद के हिस्से में एक रीतिबद्धता नजर आती है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यह हमारे समय का बड़ा उपन्यास है।

विनोद कुमार शुक्ल 88 साल के हैं। उनकी लेखकीय सक्रियता हाल-हाल तक बनी रही है। बच्चों के लिए किताबें छापने वाली संस्था 'इकतारा' के आग्रह पर उन्होंने बच्चों का एक उपन्यास भी लिखा है और कई छोटी-छोटी कविताएं भी। वह बहुत निस्पृह होकर लेखन करते रहे हैं। हाल के रॉयल्टी विवाद को छोड़ दें, तो किसी विवाद की छाया उन पर नहीं पड़ी। कुछ लोगों की यह शिकायत है (जो प्रथमदृष्टया वैध भी लगती है) कि पिछले कई वर्षों में इस देश में जो लेखन-विरोधी माहौल है, अभिव्यक्ति के सामने जिस तरह के खतरे हैं, उनके राज्य छत्तीसगढ़ से लेकर दिल्ली तक जिस तरह का अपसांस्कृतिक माहौल बनाया जा रहा है, उसको लेकर वह चुप रहे हैं और राज्य के सांस्कृतिक आयोजनों में शामिल होते रहे हैं। लेकिन यह चुप्पी उनके लिए रणनीति नहीं, उनका लेखकीय स्वभाव है। वैसे भी हर लेखक के प्रतिरोध का अपना ढंग होता है, उसकी चुप्पी अपनी तरह से टूटती है। विनोद कुमार शुक्ल की कई कविताओं में यह चुप्पी टूटती नजर आती है- बेशक, बहुत मुखर राजनीतिक ढंग से नहीं, मगर बहुत मार्मिक ढंग से वह अपनी कविताओं में छत्तीसगढ़ के आदिवासी समाज की पीड़ा भी रखते रहे हैं और राज्य के उत्पीड़न की ओर भी इशारा करते हैं।

यह सच है कि भारत में- और खास कर हिन्दी में- पुरस्कारों का जो हाल है- और खुद ज्ञानपीठ ने अपना जो हाल किया है- उसे देखते हुए किसी सम्मान पर जश्न मनाते हुए संकोच ही नहीं होता, अंदेशा होता है कि यह कहीं लेखक के कृतित्व के साथ अशालीन व्यवहार तो नहीं। लेकिन अपने अच्छे-बुरे निर्णयों के बीच पुरस्कार तभी सार्थक हो उठते हैं जब किसी सुपात्र को मिलते हैं। बेशक, उनको ज्ञानपीठ कुछ बरस पहले मिला होता तो अच्छा होता- लेखन में जीवन का पीछा करने की उनकी कोशिश कुछ आसान हो जाती। ■

हिन्दी में उपन्यास लेखन की यथार्थवादी प्रविधि को 1980 के आसपास आए जिन दो उपन्यासों ने लगभग तोड़फोड़ कर हिन्दी के पाठकों को नया आस्वाद सुलभ कराया, उनमें एक मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु-कुरु स्वाहा' था और दूसरा विनोद कुमार शुक्ल का 'नौकर की कमीज'

दो कविताएं

जो मेरे घर कभी नहीं आएंगे

जो मेरे घर कभी नहीं आएंगे
मैं उनसे मिलने
उनके पास चला जाऊंगा।
एक उफनती नदी कभी नहीं आएगी मेरे घर
नदी जैसे लोगों से मिलने
नदी किनारे जाऊंगा
कुछ तैरूंगा और डूब जाऊंगा
पहाड़, टीले, चट्टानें, तालाब
असंख्य पेड़ खेत
कभी नहीं आएंगे मेरे घर
खेत खलिहानों जैसे लोगों से मिलने
गांव-गांव, जंगल-गलियां जाऊंगा।
जो लगातार काम से लगे हैं
मैं फुरसत से नहीं
उनसे एक जरूरी काम की तरह
मिलता रहूंगा।
इसे मैं अकेली आखिरी इच्छा की तरह
सबसे पहली इच्छा रखना चाहूंगा।

हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था

हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता था
हताशा को जानता था
इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैंने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था
हम दोनों साथ चले
दोनों एक दूसरे को नहीं जानते थे
साथ चलने को जानते थे।

कम होता रहेगा अमेरिका और यूरोप का प्रभुत्व

हमें यह याद रखना चाहिए कि सौ साल पहले 'पश्चिम' जो कर सकता था, अब नहीं कर सकता। हम मानव इतिहास में एक नए युग में प्रवेश कर चुके हैं

आकार पटेल

निशाना ट्रंप का मुख्य लक्ष्य चीन है। ट्रंप उन नौकरियों को, विशेष रूप से विनिर्माण क्षेत्र में, अमेरिका लाना चाहते हैं जो चीन के लोग कर रहे हैं। 1990 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था में विनिर्माण का हिस्सा 16 प्रतिशत था जो आज 10 प्रतिशत है, जबकि विनिर्माण उत्पादन 1990 में लगभग 1 ट्रिलियन डॉलर से बढ़कर आज 3 ट्रिलियन डॉलर हो गया है।

20वीं सदी की शुरुआत से लेकर 2009 तक विश्व अर्थव्यवस्था में अमेरिका और यूरोप की साझी हिस्सेदारी 50 प्रतिशत से ज्यादा यानी 51 प्रतिशत थी। 2009 के बाद से इसमें लगातार गिरावट आ रही है। पिछले साल यह 43 प्रतिशत थी। अनुमान है कि इसमें और गिरावट आएगी।

इस हिस्सेदारी में यूरोप आर्थिक रूप से स्थिर है। यूरोपीय संघ की संयुक्त जीडीपी पिछले साल 1 प्रतिशत से कम और उससे पहले के साल में भी 1 प्रतिशत की दर से बढ़ी थी। इस साल भी इसमें 1 प्रतिशत की दर से बढ़ोतरी हो सकती है। लेकिन लंबे समय तक उच्च वृद्धि दर की कोई संभावना नहीं है। यूनाइटेड किंगडम 2023 में 1 प्रतिशत से कम, 2024 में भी 1 प्रतिशत से कम की वृद्धि का गवाह रहा। इस साल 1 प्रतिशत की दर से बढ़ोत्तरी हो सकती है।

पिछले साल अमेरिका की वृद्धि दर 2 प्रतिशत रही। उसे इस साल मंदी का सामना करना पड़ रहा है। इसका अर्थ है कि इसकी अर्थव्यवस्था में सिकुड़न की संभावना है। अमेरिका, ब्रिटेन, यूरोपीय संघ, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के लोग मिलकर दुनिया की आबादी का 10 प्रतिशत हैं। इसका मतलब है कि दुनिया के 90 प्रतिशत लोगों की अर्थव्यवस्था में 2009 तक 'पश्चिम' कहे जाने वाले देशों की तुलना में कम हिस्सेदारी थी। लेकिन इसमें तेजी से बदलाव हो रहा है।

बाकी दुनिया में बदलाव के मामले में चीन निस्संदेह शीर्ष पर है। 1990 में वैश्विक जीडीपी में इसकी हिस्सेदारी 1 प्रतिशत थी, 2000 में 3 प्रतिशत, 2010 में 9 प्रतिशत और आज 17 प्रतिशत है। 1990 में भारत की हिस्सेदारी चीन के बराबर थी। आज यह 3.6 प्रतिशत है (कुल वैश्विक जीडीपी का लगभग 108 ट्रिलियन डॉलर)।

इस मोर्चे पर भारत ने काफी बेहतर और अच्छा प्रदर्शन किया है। लेकिन पिछले 30 वर्षों से वैश्विक विकास का असली इंजन हमारा पड़ोसी देश रहा है। चीन के शानदार और तेज उदय ने 'पश्चिम' में चिंताएं पैदा कर दी हैं, यानी दुनिया भर में पश्चिम का प्रभुत्व कम होता जा रहा है। अफ्रीका और लैटिन अमेरिका और दक्षिण पूर्व एशिया में चीन की बुनियादी ढांचे की परियोजनाओं पर पश्चिमी मीडिया के लगातार हमले इस बात को रेखांकित भी करते हैं। इसके साथ ही पिछले 20 वर्षों की वार्षिक रिपोर्ट बताती हैं कि चीन की आर्थिक सफलता जल्द ही समाप्त होने वाली है।

ऐसी ही चिंताएं यूरोपीय राजनीति और अमेरिका में भी सामने आ रही हैं। डॉनल्ड ट्रंप के प्रति अमेरिका का प्यार मुख्य रूप से दो मुद्दों पर आधारित है। पहला है अश्वेत देशों से आने वाले अप्रवासियों को रोकना और अमेरिका में पहले से मौजूद इन लोगों को निर्वासित करना; और दूसरा है अमेरिका को माल निर्यात करने वाले गरीब देशों द्वारा 'धोखा' दिए जाने से बचने की इच्छा। अमेरिकियों की प्रति व्यक्ति जीडीपी मैक्सिको के लोगों से छह गुना ज्यादा है। कनाडा के लोगों की तुलना में 30,000 डॉलर प्रति वर्ष ज्यादा है, फिर भी खुश नहीं हैं।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार, इस वर्ष अमेरिका का प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (पर कैपिटा जीडीपी) 90,000 डॉलर से कुछ कम रहने की संभावना है। इसे परिप्रेक्ष्य में रखें, तो भारत की प्रति व्यक्ति जीडीपी प्रति वर्ष 3000 डॉलर से भी कम है। अमेरिका में भी पूर्ण रोजगार है जिसका अर्थ है कि नौकरी चाहने वाले लगभग सभी लोगों को रोजगार मिल सकता है।

किसी भी पैमाने पर अमेरिका के लोग दुनिया के सबसे सफल और सबसे विशेषाधिकार प्राप्त लोगों में से हैं। फिर भी वे दूसरों के उत्थान या तरक्की से नाराज हैं। इनका मुख्य लक्ष्य चीन है। ट्रंप उन नौकरियों को, विशेष रूप से विनिर्माण क्षेत्र में, अमेरिका में लाना चाहते हैं जो चीन के लोग कर रहे हैं। 1990 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था में विनिर्माण का हिस्सा 16 प्रतिशत था जो आज 10 प्रतिशत है, जबकि विनिर्माण उत्पादन 1990 में लगभग 1 ट्रिलियन डॉलर से बढ़कर आज 3 ट्रिलियन डॉलर हो गया है। इसलिए विनिर्माण तो बढ़ा है लेकिन बाकी अर्थव्यवस्था की तुलना में इसकी रफ्तार धीमी रही है। विनिर्माण में नौकरियां लगभग 18 मिलियन से घटकर लगभग 12 मिलियन हो गईं।

इसलिए विनिर्माण क्षेत्र में काम करने वाले आज की तुलना में संख्या रूप से कम अमेरिकी कर्मचारी 1990 में किए गए उत्पादन से तीन गुना से भी अधिक उत्पादन करते हैं। इसका कारण निश्चित रूप से स्वचालन और दक्षता (ऑटोमेशन और एफिशिएंसी) है। अमेरिका आज लगभग उतने ही स्टील का उत्पादन करता है जितना 1990 में करता था, यानी लगभग 80 मिलियन टन। हालांकि, स्टील प्लांट में काम करने वाले अमेरिकियों की संख्या 1980 में 512,000 से घटकर 1990 में 270,000 और पिछले साल 70,000 रह गई है।

एक ऐसा अमेरिका जो आज चीन में विनिर्माण क्षेत्र में की जा रही नौकरियों को अपने यहां सेवाओं और अन्य जगहों पर काम करने वाले कर्मचारियों की जगह ले लेगा, उसे आर्थिक उत्पादन में गिरावट देखने को मिलेगी। लोग अधिक उत्पादक काम करने से कम उत्पादक काम करने लगेंगे।

इस सबके बावजूद ट्रंप शासन में यही सारी कोशिशें हो रही हैं। इसके लिए दो तरीके अपनाए जा रहे हैं। पहला है सभी तरह की प्रतिस्पर्धा को रोकना। अमेरिका में आयात किए जाने पर चीनी इलेक्ट्रिक कारों पर 100 प्रतिशत कर लगता है जिसका मतलब है कि उनकी कीमत दोगुनी होगी। अगर कोई अमेरिकी उस कर का भुगतान करता है, तो भी वह चीनी कार नहीं चला पाएगा क्योंकि चीनी कार सॉफ्टवेयर पर प्रतिबंध है।

अमेरिकी वाणिज्य विभाग का कहना है कि 'कारों में कैमरे, माइक्रोफोन, जीपीएस ट्रैकिंग और अन्य टेक्नालॉजी होती हैं जो इंटरनेट से जुड़ी होती हैं ...। वाणिज्य विभाग अमेरिकी राष्ट्रीय सुरक्षा के मद्देनजर और अमेरिकियों की गोपनीयता की रक्षा करने के लिए एक आवश्यक कदम उठा रहा है ताकि विदेशी प्रतिद्वंद्वियों को संवेदनशील या व्यक्तिगत जानकारी तक पहुंचने के लिए इन टेक्नालॉजी में हेरफेर करने से रोका जा सके।'

यह प्रतिबंध अमेरिकी फर्मों की सुरक्षा और चीन को नकारने दोनों के उद्देश्य को पूरा करता है। दूसरा तरीका सार्वभौमिक टैरिफ के माध्यम से है। हम देखेंगे कि 2 अप्रैल को जब वे सामने आएंगे, तो इसका क्या मतलब होगा। इसका असर पूरी दुनिया पर पड़ेगा जिसमें यूरोप, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में अमेरिका के सहयोगी देश भी शामिल हैं जो हैरान हैं क्योंकि वे इस जनवरी तक खुद को अमेरिका का भागीदार मानते थे। बाकी दुनिया के उत्थान ने इन दरारों को जन्म दिया है।

क्या अमेरिका के यह कदम यह सुनिश्चित करेंगे कि वह गरीब देशों के सापेक्ष और नीचे न गिर जाए? बिल्कुल नहीं। चीन और भारत और अफ्रीका और लैटिन अमेरिका का विकास जारी रहेगा। अमेरिका और यूरोप का प्रभुत्व और उनका प्रभाव कम होता रहेगा क्योंकि उन्हें सत्ता साझा करने के लिए मजबूर किया जाता है। 100 साल पहले 'पश्चिम' जो कर सकता था, वह अब नहीं कर सकता। हम मानव इतिहास में एक नए युग में प्रवेश कर चुके हैं। ■

सार्वभौमिक टैरिफ का असर पूरी दुनिया पर पड़ेगा जिसमें यूरोप, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में अमेरिका के सहयोगी देश भी शामिल हैं जो हैरान हैं क्योंकि वे इस जनवरी तक खुद को अमेरिका का भागीदार मानते थे

ग़ज़लें / अनिरुद्ध सिन्हा

(1)

दरिया उदास है न ये सहरा उदास है
पिंजरे में क़ैद वक़्त का तोता उदास है

मां-बाप से निबाह नहीं कर सकी बहू
घर का ये हाल देख के बेटा उदास है

काबू में क्या रखेगा वो जज़्बात देर तक
जिसके हसीन ख़्वाब का चेहरा उदास है

मोबाइलों में व्यस्त है घर के तमाम लोग
चुपचाप एक कोने में बच्चा उदास है

सूरज की भेंट चढ़ गई इस बार भी फसल
परिंदे सारे चुप हैं बिजूका उदास है

(2)

ख़ुद को तुझ-सा बना लिया मैंने
ये भी ख़तरा उठा लिया मैंने

हिचकियां दम न तोड़ दे आख़िर
रोग ऐसा लगा लिया मैंने

नोच लेगा वो चैन ही सारे
ख़्वाब को यूं बढ़ा लिया मैंने

इससे पहले कि रात हो जाए
एक दीपक जला लिया मैंने

देखना ये मकान चमकेगा
रंगो रोगन करा लिया मैंने

(3)

कई सवाल थे जिनका जवाब दे आया
उसे मैं एक मुकम्मल किताब दे आया

कोई भी कर्ज़ नहीं रक्खा अपने कंधे पर
हिसाब चुकता किया सब हिसाब दे आया

मैं और कुछ तो नहीं दे सका मगर यारो
दिलों में बच्चों के इक इन्क़लाब दे आया

दिए थे जिसने मुझे सिर्फ़ कांटे ही कांटे,
मैं उसको खिलता हुआ इक गुलाब दे आया

गया था मिलने मैं कुछ टूटे-फूटे लोगों से,
कई बुझी हुईं आंखों को ख़्वाब दे आया

(4)

ज़िंदगी के मंच पर मेयार देखा जाएगा
लोग परखे जाएंगे किरदार देखा जाएगा

रंजिशों के कैक्टस जब दिल से बाहर आएंगे
भाइयों के दरमियां फिर प्यार देखा जाएगा

ख़ून का दरिया बहाएगी सियासत कब तलक
कब तलक ख़ुद को यहां लाचार देखा जाएगा

मुल्क की सरहद में जब घुस जाएंगे दुश्मन तो फिर
कौन है इस मुल्क का गद्दार देखा जाएगा

इक नई मंज़िल की जानिब आओ निकलो तो सही
रास्ते में जो भी होगा यार देखा जाएगा

(5)

अपने भीतर भी कभी झांका करो
दूसरों की जब कभी चर्चा करो

उसकी यादों से न तुम रूठा करो
अपने दिल के साथ मत धोखा करो

रात-दिन करते हो बस आलोचना
पक्ष में भी तुम कभी बोला करो

छोड़ दो गुलशन को अपने हाल पर
शाख़ से फूलों को मत तोड़ा करो

धूप में जलते मुसाफ़िर के लिए
हो सके तो राह में साया करो

लघुपत्रिकाएं और जनपक्षधरता का सवाल

कम संसाधनों वाली अच्छी साहित्यिक-वैचारिक लघुपत्रिका निकालना बेहद कठिन काम है। ऐसे में लघुपत्रिकाओं पर विमर्श जरूरी है

शैलेन्द्र चौहान

लघु पत्रिका आंदोलन मुख्य रूप से पश्चिम में प्रतिरोध के औजार के रूप में शुरू हुआ था। यह फ्रांस के रेसिस्टेंस ग्रुप से प्रेरित था। यह प्रतिरोध राज्य सत्ता, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद या धार्मिक वर्चस्ववाद- किसी के भी विरुद्ध हो सकता था। लिटिल मैगजीन आंदोलन की विशेषता उससे जुडे. लोगों की प्रतिबद्धता तथा सीमित आर्थिक संसाधनों में तलाशी जा सकती थी। अक्सर बिना किसी बड़े औद्योगिक घराने की मदद लिए, किसी व्यक्तिगत अथवा छोटे सामूहिक प्रयासों के परिणाम स्वरूप निकलने वाली ये पत्रिकाएं अपने समय के महत्वपूर्ण लेखकों को छापती रही हैं।

भारत में भी सामाजिक चेतना के बढ़ने के साथ-साथ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लघु पत्रिकाएं प्रारंभ हुईं। 1950 से लेकर 1980 तक का दौर हिन्दी की लघु पत्रिकाओं के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। यह वह दौर था जब नई-नई मिली आजादी से मोहभंग शुरू हुआ था और बहुत बड़ी संख्या में लोग विश्वास करने लगे थे कि बेहतर समाज बनाने में साहित्य की निर्णायक भूमिका हो सकती है।

आज के समय में मुख्यधारा की पत्रिकाएं व अखबार, कॉरपोरेट जगत व सम्राज्यवादी ताकतों के प्रभाव में समाहित हो रहे हैं। इस वजह से देश के चौथे स्तंभ के प्रति पाठकों में संशय उत्पन्न होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में लघु पत्रिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। लघु पत्रिकाएं पिछलग्गू विमर्श का मंच नहीं हैं। लघु पत्रिका का चरित्र सत्ता के चरित्र से भिन्न होता है, ये पत्रिकाएं मौलिक सृजन का मंच हैं।

दरअसल हिन्दी में लघु पत्रिका आंदोलन की शुरुआत छठे दशक में व्यावसायिक पत्रिका के जवाब के रूप में की गई। इस आंदोलन का श्रेय हम हिन्दी के वरिष्ठ कवि विष्णुचंद्र शर्मा को दे सकते हैं। उन्होंने 1957 में बनारस से 'कवि' का संपादन-प्रकाशन शुरू किया था। कालांतर में और भी कई लघु पत्रिकाएं व्यक्तिगत प्रयासों और प्रकाशन संस्थानों से निकली, जिसने हिन्दी साहित्य की तमाम विधाओं को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उसका विकास भी किया। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका, कादम्बनी, दिनमान, और माधुरी जैसी बड़ी पूंजी से निकलने वाली पत्रिकाओं के मुकाबले अणिमा, कहानी, नई कहानियां, कल्पना, लहर, वातायन, बिन्दु, क्यों, तटस्थ, वाम, उत्तरार्ध, आरम्भ, ध्वज भंग, सिर्फ, हाथ, कथा, आलोचना, कृति, क ख ग, माध्यम, वसुधा ऐसी पत्रिकाएं, बड़े प्रतिष्ठानों से नहीं, बल्कि लेखकों के व्यक्तिगत, निजी प्रयत्नों से छोटे पैमाने पर निकलीं। उस वक्त ऐसी पत्रिकाओं की जैसे झड़ी ही लग गई। समझ, आवेग, सनीचर, अकविता, पहल, आकंठ, इबारत, जारी, ज़मीन, आइना, कंक, अब, आमुख, तेवर, धरातल, आवेश, आवेग, अभिव्यक्ति, धरती, वयं, संबोधन, संप्रेषण जैसी पत्रिकाएं निकलीं जो सीमित संसाधनों, व्यक्तिगत प्रयासों या लेखक संगठनों की देन थीं। इन पत्रिकाओं का मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोध था और ये शोषण, धार्मिक कठमुल्लापन, लैंगिक असमानता, जैसी प्रवृत्तियों के विरुद्ध खड़ी दिखाई देतीं थीं।

> आज का समय बहुत जटिलता लिए हुए है, यह सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संक्रमण का समय है। लेकिन अब भी इस डिजिटल और सोशल मीडिया वाले दौर में कुछ लघु पत्रिकाएं हैं जो सामाजिक व राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए साहित्यिक चेतना जगाने का काम कर रही हैं। यह सुखद है

इन पत्रिकाओं के पुराने अंकों पर नज़र डालें तो हिन्दी साहित्य के बहुत सारे विवाद, आंदोलन, प्रवृत्तियों को निर्धारित करने वाली सामग्री और महान रचनाएं समाई हुई मिलती हैं। साहित्य के गंभीर पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए इनका ऐतिहासिक महत्व है और तमाम सामग्री ऐसी हैं जिन्हें फिर से सामने लाने की दरकार है। आज जो भी लिखा जा रहा है, उसके प्रकाशन का मंच यही पत्रिकाएं हैं, लेकिन इनकी सीमा भी है।

कम संसाधनों वाली अच्छी साहित्यिक-वैचारिक लघुपत्रिका निकालना बेहद कठिन काम है। एक तो अच्छी सामग्री जुटाना, बार-बार उन्हीं चलताऊ घिसे-पिटे नामों से इतर अपने कर्म के प्रति गंभीर एवं नए रचनाकारों से जनपक्षीय तथा वैज्ञानिक दृष्टिसंपन्न रचनाएं एकत्रित करना एक श्रमसाध्य और गंभीर काम होता है। इसमें एक सुस्पष्ट, संतुलित और चेतस संपादकीय दृष्टि का होना आवश्यक होता है। ढेरों सामान्य, एकरस, बड़े नामों को ब्रांड बनाकर भुनाने वाली, विज्ञापनों से धन बटोरने वाली, सरकारी कृपा पर निर्भर रहनेवाली, एक समूह के हितों को संपुष्ट करने वाली यशकामी-महत्वाकांक्षी अवसरवादी संपादकों की व्यक्तिगत कुंठाओं को ढोने वाली, सजावटी शो रूम पत्रिकाओं की भीड़ में निस्पृह रहकर पत्रिका निकाल पाना एक स्वप्न जैसा ही लगता है। क्या ऐसा संभव है? बीसवीं सदी के प्रारंभ में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ऐसे अनेक मूल्यवान सार्थक प्रयास हुए। बीसवें दशक के उत्तरार्ध में भी कई पत्रिकाएं इस कसौटी पर खरी उतरीं। लघुपत्रिका आंदोलन का एक प्रभाव रहा लेकिन आज वह दृष्टि, लगन, समर्पण और 'स्व' से विलग होने का भाव कम ही दिखाई देता है। ऐसे प्रयासों में लोगों का सहयोग भी अत्यल्प होता है। क्या ऐसे प्रयास सफल हो सकते हैं? जन सहयोग अगर हो तो अवश्य ही यह संभव है। यूं तो हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं का लंबा और समृद्ध इतिहास रहा है लेकिन हर साहित्यिक पत्रिका, लघुपत्रिका नहीं कही जा सकती। आज कुछ व्यवस्थित मासिक साहित्यिक पत्रिकाएं निकल रही हैं जो पूर्णतः व्यवसायिक तो नहीं हैं लेकिन दृष्टि वैसी ही है। कथादेश, हंस, पाखी, वागर्थ और नया ज्ञानोदय नियमित निकल रही हैं। प्रतिरोध की जगह लोकप्रियता, समझौतापरस्ती और अवसरवादी सोच इनमें समाहित है। दूसरी ओर कुछ लोग लगातार मोटे-मोटे विशेषांक निकाल रहे हैं जो किसी विधा विशेष या स्थापित रचनाकार पर केन्द्रित होते हैं। फिर भी इन साहित्यिक (लघु?) पत्रिकाओं में छपी सामग्री का अपना एक ऐतिहासिक महत्व है।

आज का समय बहुत जटिलता लिए हुए है, यह सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संक्रमण का समय है। लेकिन अब भी इस डिजिटल और सोशल मीडिया वाले दौर में कुछ लघु पत्रिकाएं हैं जो सामाजिक व राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए साहित्यिक चेतना जगाने का काम कर रही हैं। यह सुखद है।

मई 2022 में समकालीन जनमत पत्रिका में कौशल किशोर का लघुपत्रिकाओं पर एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका एक अंश उद्धृत करना प्रासंगिक लग रहा है। वह कहते हैं- "यह समय है जब लघु पत्रिकाओं में भी बदलाव दिखता है। वाम-जनवादी दिशा और तेवर की जगह अस्मिता विमर्श, सांप्रदायिकता का सवाल, उपभोक्तावाद, बाजारवाद आदि लेता है। विचार की जगह बाजार प्रधानता ग्रहण करता है। पद, प्रतिष्ठा, सम्मान, पुरस्कारों आदि की ऐसी नकली होड़ शुरू हुई जिसने मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा, व्यक्तिवाद, अवसरवाद जैसी पराई प्रवृत्तियों को बढ़ाने का काम किया। वस्तुपरकता का पहलू कमजोर हुआ। रचनाकारों में आत्मपरकता, आत्मश्लाघा, आत्मप्रशंसा, आत्मप्रचार बढ़ा। इस दौर की अधिकांश पत्रिकाएं व्यक्तिगत प्रयासों से निकली हैं/निकल रही हैं। सामूहिकता की भावना यानी जनवाद का पक्ष कमजोर हुआ है।" ऐसे में लघुपत्रिकाओं के मौजूदा स्वरूप, उनके चरित्र, संसाधन और प्रतिबद्धता के बीच तालमेल, कलेवर में साहित्यिक लेकिन चरित्र में व्यावसायिक पत्रिकाओं के प्रति हमारा नज़रिया कैसा हो, जैसे सवालों पर विचार करना ज़रूरी है।

इस नज़रिए से 'प्रेरणा अंशु' द्वारा दिनेशपुर (रुद्रपुर, उत्तराखंड) में विगत 8 व 9 मई को आयोजित लघु पत्रिका सम्मेलन महत्वपूर्ण पहल था जिसमें न सिर्फ जीवंत बहसें हुईं, लोगों ने अपने अनुभव भी साझा किए। पिछला सम्मेलन 2001 में हुआ था। यानी दो दशक बीत गया, कोई सम्मेलन नहीं हुआ। यह लघुपत्रिका आंदोलन में शिथिलता और जड़ता का प्रतीक है। ऐसे में 'प्रेरणा अंशु' की लघुपत्रिका सम्मेलन आयोजित करने की पहल (10-11 मई 2025) महत्वपूर्ण है जो इस जड़ता और शिथिलता को तोड़ने में सहायक होगी। आज के इस रचना विरोधी समय में लघुपत्रिकाओं की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। ■

एक पाती प्रेम की

स्त्री का जीवन तो वैसे भी अनुमति लेने में बीतता है। वह उसे सहमति का कवच ओढ़ाती है और उसी को सामान्य मान लेती है

मीनाक्षी नटराजन

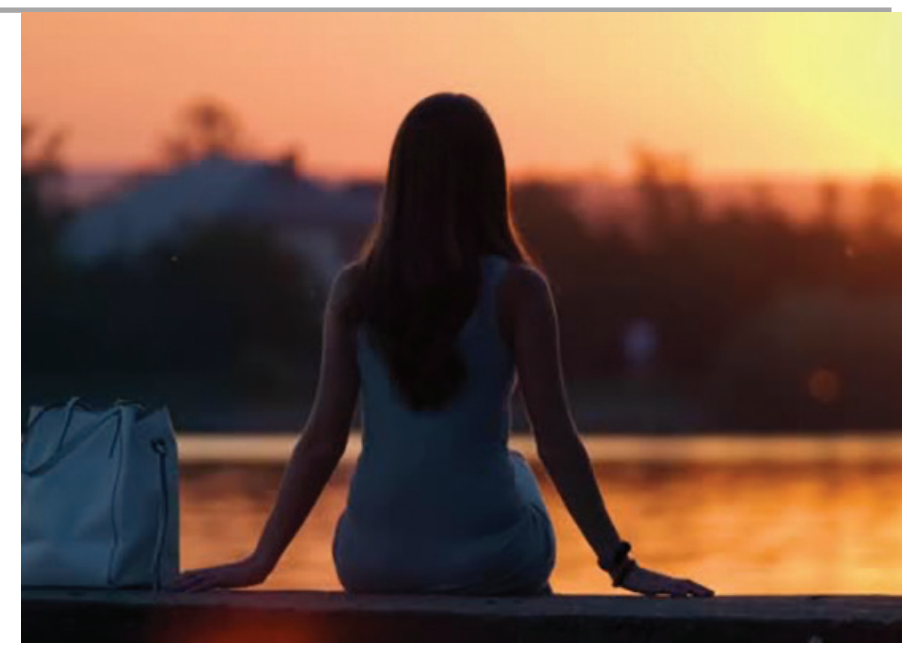

कितने दिन बीत गए बिना कुछ कहे, सुने! अब सुनना तो नहीं होगा। लेकिन कह तो सकती हूं। याद है, मैं उस दिन बच्चों की तरह खुश हुई थी जब सुना कि तुमने विहार की सहमति दे दी है। बडे. मनोयोग से तैयारी करने लगी। तब क्या पता था कि हमेशा के लिए निकाली जा रही हूं। वैसे, स्त्री अपने आप कहां कभी भी निकल पाती है! बीच जंगल में ले जाकर जब मुझे फैसला सुनाया गया तो सहसा विश्वास नही हुआ। सन्न रह गई। यकीन नहीं हुआ कि सही सुना। मगर कान बंद करने से सुना, अनसुना थोडे.ही हो जाता है। चाहे न चाहे स्वीकार करना पड़ता है। कई दिन तक गुमसुम रही। दिन-रात का क्रम चलता जाता। मै किसी यंत्र सी चलती रहती। गुस्सा, दुःख, तिरस्कार बदल-बदलकर मन में छाया रहता। बड़बड़ाती, बुदबुदाती रहती। आसपास की सुधबुध ही खो बैठी। फिर एक दिन नदी किनारे टेसू के फूलों को खिलते देखा। बरबस मुंह से निकल पड़ा कि तुम्हारा बस चले तो इनका ही गजरा सजाने को कहोगे। कहते-कहते खिलखिला पड़ी। जैसे कि तुम सामने हो।

जानते हो, नारंगी पलाश के फूल खिल रहे है। पेड़ में एक पत्ता नहीं है। फूलों से लद गए हैं। तुमको टेसू के फूल बहुत पसंद थे न! वहां राजमहल के उद्यान में उस छोटी सी पोखर के पास पलाश के पेड़ थे। शुरुआती दिनों में तुम मुझे कमरे की खिड़की से दिखाते थे। छोटी मैना आकर बैठती थी। हम कभी सांझ में वहां तक टहल आते थे। राजमहल में कई बंधन थे। मर्जी से कुछ नहीं हो सकता था। स्त्री का जीवन तो वैसे भी अनुमति लेने में बीतता है। वो उसे सहमति का कवच ओढ़ाती है। उसको सामान्य मान लेती है। जब चित्रकूट आ बसे, सब कुछ खुल गया। वहां भी पलाश के पेड़ थे। उन पेड़ों के नीचे कितनी बातें की हैं। कितने सपने साथ देखे हैं। कितनी कहा-सुनी की है। तुम कहते थे कि पलाश की छाया पड़ते ही मेरे चेहरे की लालिमा और गहरा जाती है। क्या तुमने इस बार पलाश को फूलते देखा? उसी खिड़की से? राजा हो गए हो। ये सब निहारने का तुम्हें वक्त भी मिलता होगा क्या? तुम तो बहुत भावुक रहे हो। अब भी ऐसे ही होगे न? तुम अपने को बदल नहीं सकते तो कसमसाते होगे। मन मसोसकर रह जाते होगे। काश कि तुम वो कर सको जो तुम करना चाहते हो।

मुझे याद है कि तुम्हें फूलों की माला गूंथना बहुत अच्छा लगता था। पर कभी महल में कर नही पाए। राजकुमार माला गूंथते हुए दिख जाए तो क्या प्रतिक्रिया होगी? राजकुमार को तो तीर-कमान शोभित करता है। पता नहीं किसने तय किया? उन पांच वटों की झुरमुट के नीचे बैठकर कितने रमकर माला गूंथते थे। मुझसे अच्छा करते थे। विभिन्न रंगों का मनोरम समावेश करते। वहां कोई रोक टोक नहीं थी। अब तो तुम ये सब कभी कर नहीं पाते होगे।

वैसे, अब मैं साफ देख पाती हूं। मेरे जाने से पहले के कुछ दिन अब समझ में आते हैं। तुम कितनी तकलीफ में थे। कहना चाहते थे, पर कह नहीं पा रहे थे। मुझसे नजर मिलाना बंद कर दिया था। अब भी मैं तुमसे बहुत प्रेम करती हूं। सो तुम्हारी पीड़ा समझती हूं। तुम्हें कहना चाहती हूं कि तुमसे बिछोह का दर्द बहुत है। पर तुम मुझसे कह सकते थे। सबसे ज्यादा दुःख इस बात का रहा है कि तुम मुझसे साफ कह नहीं पाए। क्यों? क्या तुम्हें लगा कि मैं समझ नहीं पाऊंगी। मैं इतनी नासमझ हूं? उड़ते-उड़ते हर खबर महल के भीतर पहुंच ही जाती थी। लोग सवाल उठाने लगे थे। तुम्हें तो उस दिन गलत साबित होना ही था। तुम राजा थे। अपनी स्त्री के लिए नियम तोड़ने का आरोप लगता। सो तुमने वो फैसला किया, जिसे तुम भी मानना तो नहीं चाहते थे।

स्त्री का सवाल छोटा पड़ गया। राजा की लोक मर्यादा प्रबल हो गई। जब तुम राजा नहीं थे, तब समाज के बंधनों को नहीं माना। विदेह आते-आते सबके विरोध के बावजूद पति का बहिष्कार सहती देवी अहिल्या से मिलने गए। तो क्या राजा बनते ही क्रांति काफूर हो जाती है?

उस दिन तुम शायद अपने लिए भी वनवास चुनते। पर वह तो पलायन हो जाता। तुम्हारे लिए फैसला लेना कठिन था। पर क्या सबसे कमजोर के पक्ष में खड़ा होना ही राजधर्म नहीं? मुझसे अपनी यह पीड़ा बांटते तो क्या मैं समझ नहीं पाती। तुमसे इसकी उम्मीद तो नहीं थी। रानी से नहीं, जीवन साथी से नहीं अपने मित्र से तो बांटते। मैं तो तुम्हारी मित्र भी थी। मैंने तुमने कितना कुछ साथ बांटा है। ये नहीं बांटती क्या?

वैसे अब इन बातों का कोई सार नहीं। मैं अब ठीक हूं। खुद को पहचान रही हूं। टेसुए बहाते हुए जीवन नहीं बिताऊंगी। बेचारगी मुझे मंजूर नहीं। भूल गई थी कि मुझे तो बचपन से ही हरसिंगार के फूल पसंद थे। तुम्हारा साथ पाकर इतनी तुममय हो गई कि सब भूल गई। यहां आश्रम में इस बारिश में बीज बोऊंगी। तुम पलाश को जरूर देखना। राजा से कोई ये नहीं पूछता होगा। ऐसा पूछना दुर्बल माना जाता है। मगर मैं तो पूछ सकती हूं। तुम कैसे हो? ठीक तो हो न। विगत को जाने दो। खुद को माफ कर दो। और हमारे कमरे की खिड़की से आज पलाश को जरूर देखना। तुम्हें तारों वाली रात अच्छी लगती थी। सबसे नजर बचाकर तारों को देखना। टिमटिमाते हुए। इधर मैं भी जुगनूओं को देखूंगी। टिमटिमाते हुए। ■

> स्त्री का सवाल छोटा पड़ गया। राजा की लोक मर्यादा प्रबल हो गई। जब तुम राजा नहीं थे, तब समाज के बंधनों को नहीं माना। विदेह आते-आते सबके विरोध के बावजूद पति का बहिष्कार सहती देवी अहिल्या से मिलने गए। तो क्या राजा बनते ही क्रांति काफूर हो जाती है?

Published Date 30 March, 2025 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

झारखण्ड के लगभग 4 करोड़ लोगों का अबुआ बजट 2025-26

हेमन्त सोरेन
मुख्यमंत्री, झारखण्ड

₹1 लाख 45 हजार 400 करोड़ का कुल बजट

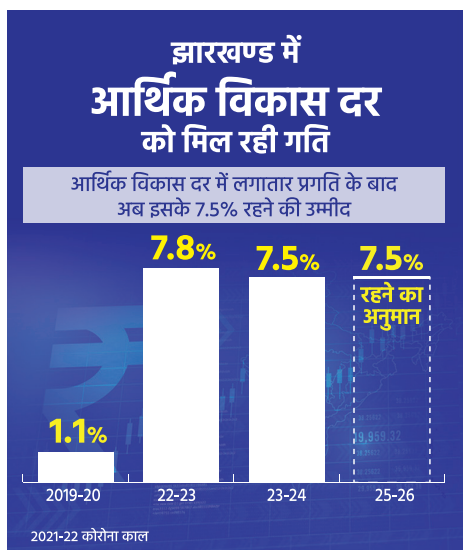

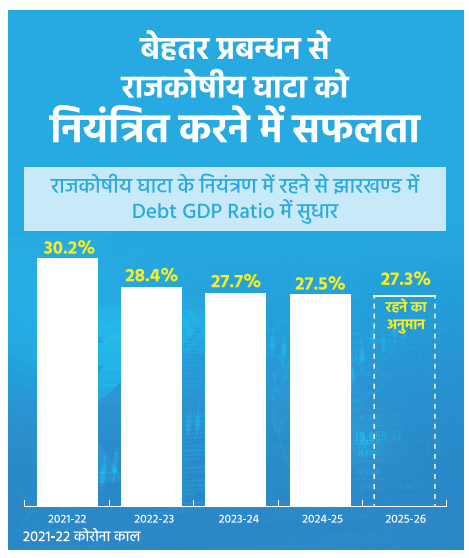

सामाजिक सुरक्षा के लिए
₹22 हजार 23 करोड़
33 लाख 85 हजार

ग्रामीण क्षेत्र में आय के स्रोत के लिए
12 करोड़ मानव दिवस सृजन

सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यमियों के लिए
MSME निदेशालय
की स्थापना

प्रारंभिक/माध्यमिक के लिए
₹15 हजार 198 करोड़ 35 लाख

स्वास्थ्य सुविधा के लिए
₹7 हजार 470 करोड़ 50 लाख 86 हजार

पंचायती राज व्यवस्था के लिए
₹2 हजार 144 करोड़ 78 लाख 14 हजार

पेयजल के लिए
₹4 हजार 710 करोड़ 2 लाख 56 हजार

युवाओं को स्वरोजगार के लिए
आसान और कम ब्याज पर लोन सुविधा

उच्च एवं तकनीकी के लिए
₹2 हजार 409 करोड़ 20 लाख 96 हजार

ग्रामीण अर्थव्यवस्था को गति
पलाश मार्ट को **₹30 करोड़**

सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, झारखण्ड सरकार